अधिकारिविभेदेन
शास्त्राणि युक्तानि
अशेषतः

अर्थ—अधिकारी के भेद से सभी शास्त्र संगतियुक्त हैं।

साधकशङ्कासमाधान

प्रथम भाग

विविध विरुद्ध शास्त्रवचनों के
सङ्गतिपूर्वक साधकोपयोगी
शङ्का-समाधान

त्रिभुवन दास

लेखक
शङ्करानन्द सरस्वती

साधकशङ्कासमाधान

विविध विरुद्ध शास्त्रवचनों के
सङ्गतिपूर्वक साधकोपयोगी
शङ्का-समाधान

लेखक

शङ्करानन्द सरस्वती

प्रकाशक —
परमात्मानन्द सरस्वती
परमार्थ निकेतन
पो० स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश)
जिला—पौढ़ी–गढ़वाल
पिन —२४९३०

प्रकाशन अधिकार सभी को
मूल्य ५ रुपया

सूचना—डाक से पुस्तक मँगानेवाले सज्जन मूल्य के साथ रजिस्ट्री खर्च प्रथम भेजें।

प्रथम संस्करण २०००
संवत् २०४१

मुद्रक— रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, बी. २१/४२ए, कमच्छा, वाराणसी।

समर्पणम्

मेरे ग्राम के बाहर एक हनुमानजी का मन्दिर है। उसमें एक ब्रह्मचारीजी रहते थे। १४–१५ वर्ष की अवस्था में जब मैं उनके पास जाने लगा, तब उनकी मेरे प्रति ऐसी अहेतुकी कृपादृष्टि हो गई, जैसी श्रीरामकृष्ण परमहंसजी की विवेकानन्दजी के प्रति हुई थी। मुझे साल में दो चार बार हाहाकार करा देनेवाला महान् कष्ट-दायक श्वास का दौड़ा होता था। मेरी दयनीय दशा देखकर उन्होंने दया करके जंगल से एक जड़ी लाकर खिलाई। उसका ऐसा चमत्कार हुआ कि ४० वर्ष हो गये श्वास का दौड़ा कभी नहीं आया। बाद में उन्होंने मेरे मन में भगवान् के भजन-ध्यान के संस्कारों का आधान किया और राममन्त्र की दीक्षा देकर आशीर्वाद दिया। इस प्रकार तन एवं मन दोनों को साधनायोग्य बनाकर मुझे साधक बनाया। उस साधक अवस्था में होनेवाली सामान्य शङ्काओं का समाधान भी वे कर देते थे। अतः उन्हीं अहेतुकी कृपावाले कृपालु गुरु के करकमलों में **'साधक-शङ्का-समाधान'** नाम का ग्रन्थ सादर समर्पण करता हूँ।

शङ्करानन्द सरस्वती

पौष अमावस्या संवत् २०४१

प्राक्कथन

एक साथ उत्पन्न दो सन्तानों में एक जन्म से ही रोगी होता है, दूसरा नीरोग होता है। इसमें माता के खान-पान या पिता के वीर्य में विषमता आदि दृष्ट कारणों को दिखाना संभव न होने से अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तर में किये शुभ-अशुभ कर्मरूप धर्म-अधर्म को ही कारण बाध्य होकर मानना पड़ता है। जन्म के बाद भी समान रूप से लालन-पालन, भोजन, शिक्षा आदि की व्यवस्था रहते हुए भी एक का हृष्ट-पुष्ट होना दूसरे का कृश-निर्बल होना, एक का बुद्धिमान् होना, दूसरे का अबुद्धिमान् होना भी अदृष्ट कारणरूप धर्म-अधर्म को सिद्ध करता है।

गुप्तरूप से किये गये होने के कारण जिन शुभ-अशुभ कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिला उनका फल भोगने के लिये भी जन्मान्तर को मानना ही होगा। जन्मान्तर की घटनाओं को बताने-वाले बालकों का समाचार अखबार में आता ही रहता है। ये समाचार जन्मान्तर को स्वीकार करना अनिवार्य सिद्ध कर देते हैं। जन्मान्तर में प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख, रुग्णता, अरुग्णता आदि में कारण इस जन्म में किये गये शुभ-अशुभ कर्मरूप धर्म-अधर्म ही होते हैं।

इस प्रकार इस जन्म में प्राप्त विषम भोगरूप कार्य के कारणरूप में जन्मान्तरकृत धर्म-अधर्म को स्वीकार करना जैसे अनिवार्य है, वैसे ही इस जन्म में किये धर्म-अधर्म के फलभोग के लिए जन्मान्तर को स्वीकार करना भी अनिवार्य है। इस जन्म में या जन्मान्तर में उचित फलभोग की व्यवस्था अल्पज्ञ असमर्थ मानव से संभव न होने के कारण सर्वज्ञ सर्वसमर्थ ईश्वर को स्वीकार करना भी अनिवार्य है। धर्म-अधर्म, जन्मान्तर, फलभोग करनेवाला देह से पृथक्

आत्मा, फलदाता ईश्वर—इन सबकी सिद्धि नेत्र आदि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तथा नेत्र आदि का सहारा लेकर चलनेवाले भौतिक विज्ञान द्वारा भी नहीं हो सकती। इसका एकमात्र कारण यह है कि इनसे भौतिक पदार्थ ही जाने जा सकते हैं। अतः अभौतिक होने से धर्म-अधर्म आदि की सिद्धि इनसे नहीं हो सकती। इसीलिए इनकी सिद्धि अनादि अपौरुषेय वेदों से तथा वेदानुसारी मनुस्मृति आदि शास्त्रों से ही होती है। ऐसा गंभीरविचारशील ऋषियों ने स्वीकार किया है। इसे विस्तार से समझने के लिए मेरी 'वैदिकचर्या विज्ञान' की भूमिका पढ़नी चाहिए।

धर्म-अधर्म आदि की सिद्धि वैदिक शास्त्रों से होती है, इस बात पर जिनका पूर्ण विश्वास है। वे आस्तिक भी जब शास्त्रों का पूर्वापर अनुसन्धानपूर्वक मनोयोग से अध्ययन करते हैं, तो उन्हें शास्त्रों में एक ही विषय पर विविध प्रकार के वचन मिलते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु परस्पर विरुद्ध वचन भी उन्हें मिलते हैं। तब उनके हृदय में शङ्काओं का उत्थान होना तथा समाधान की अभिलाषा का होना अनिवार्य है। शास्त्रों के ऐसे अनेकों विवादास्पद विषयों में से साधक-उपयोगी कुछ विषयों पर शङ्का-समाधान शास्त्रवचनों के आधार पर छोटे-छोटे लेखों के रूप में लिखे गये। कुछ आवश्यक शङ्का-समाधान शास्त्रवचन के बिना भी लिखे गये। उन लेखों में कुछ लेख परमार्थपत्रिका तथा कल्याणपत्रिका में प्रकाशित भी हुए। उन प्रकाशित तथा अप्रकाशित लेखों को ही इस ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। आशा करता हूँ इसके अध्ययन से साधकों की शङ्का का समाधान अवश्य होगा। इतना ही नहीं, किन्तु जो साधक मननपूर्वक अध्ययन करेंगे उन्हें शास्त्रों के विविध तथा परस्परविरुद्ध वचनों की संगति कैसे लगाई जाती है, इस विषय में भी कुछ ज्ञान हो जायेगा। जिन शास्त्रवचनों को आधार बनाकर शङ्का-समाधान किया गया है, उन

शास्त्रों का जिन्होंने अध्ययन और मनन किया है, उन्हें तो विशेष लाभ तथा सन्तोष होगा। शास्त्रसङ्गति-मर्मज्ञ विशिष्ट विद्वानों से तो सविनय करबद्ध प्रार्थना है कि यदि कहीं कोई असङ्गति हो तो कृपया अवश्य सूचित करें। साधकों को चाहिए कि प्रथम पूरी विषयसूची पढ़ लें। उनमें से जो लेख उनकी शङ्का से सम्बन्धित हो उसे सर्वप्रथम पढ़ें। बाद में दूसरे लेख पढ़ें। ग्रन्थ लेखों का संग्रहरूप होने कारण लेखों में क्रमसंगति या पुनरुक्ति आदि दोषों को देखने का प्रयास न करें।

इस ग्रन्थ से पूर्व तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—

१. **सर्वदर्शनसमन्वय**—सर्वदर्शनमर्मज्ञ विद्वानों के लिये विचारणीय-समालोचनीय।

२. **साधन-विचार**—गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रों का सामान्यज्ञान तथा १०-२० वर्ष साधन करनेवालों के लिये मननीय।

३. **वैदिकचर्या विज्ञान**—सर्व जनसाधारण के लिये भी आचरणीय।

इन तीनों ग्रन्थों के प्रकाशन में भी हमारे गुरुभाई परमात्मानन्दजी ने उदारतापूर्वक हजारों रुपये दिये थे। 'साधकशङ्कासमाधान' नाम के इस ग्रन्थ के प्रकाशन का तो पूरा भार अति उदारहृदय से अकेले ही उन्होंने उठाया है। पूर्वप्रकाशित तीनों ग्रन्थ अमूल्य या अल्पमूल में वितरित किये जाने के कारण उनका अच्छा उपयोग नहीं हुआ, ऐसा अनुभव हुआ। उचित मूल्य देकर जब कोई ग्रन्थ लेता है तब उसे एक बार अवश्य पढ़ता है, ऐसा विचार कर परमात्मानन्दजी ने इस ग्रन्थ का उचित मूल्य ५) रुपया रखा है। पूर्व प्रकाशनों की तरह इस ग्रन्थ को भी मुद्रण कराने का पूरा भार श्रीराधेश्यामजी खेमका ने स्वीकार करके महान् परोपकार किया है। अतः हम हृदय से दोनों के आभारी हैं।

इस ग्रन्थ में रामायण, भागवत, महाभारत, गीता तथा विष्णुपुराण के वचनों के आगे स्थलनिर्देश गीताप्रेस से प्रकाशित ग्रन्थों के अनुसार किया गया है। श्रीकुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावलीटीकायुक्त ग्रन्थ के अनुसार मनुस्मृति के श्लोकों के आगे स्थलनिर्देश दिया गया है। अत्रि, वसिष्ठ, गौतम आदि स्मृतियों के स्थलनिर्देश प्रायः वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित १८ स्मृतियों के आधार पर किया है। भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशित स्मृतिग्रन्थों में मन्त्रसंख्या में कुछ अन्तर पाया जाता है। अतः कहीं सन्देह होने पर आगे पीछे भी देख लेना चाहिए। जिन शास्त्रवचनों के सामने केवल ग्रन्थ का नाम ही लिखा है संख्या नहीं लिखी, वे वचन वीरमित्रोदय, पाराशर-माधव आदि निबन्ध ग्रन्थों से लिये गये हैं। वे वचन वर्तमान में प्राप्त उन ग्रन्थों में कुछ मिलते हैं, कुछ नहीं भी मिलते। इससे वर्तमान के ग्रन्थ अपूर्ण हैं, ऐसा अनुमान होता है। जिन शास्त्र-वचनों के आगे अनेकों स्थलों का उल्लेख किया है वे वचन उन स्थलों में ज्यों के त्यों या तत्सदृश रूप में मिलते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

धार्मिक पत्रिकावाले इस ग्रन्थ में से जो लेख अच्छा लगे उसे प्रकाशित कर सकते हैं। लेख में से जो चाहें निकाल तो सकते हैं, परन्तु अपनी तरफ से कुछ भी मिलाने का कष्ट न करें। क्योंकि मैं अपने ही शब्दों का उत्तरदायी हो सकता हूँ, अन्य के शब्दों का नहीं।

शङ्करानन्द सरस्वती

पौष शुक्ल ११ संवत् २०४१

विषय-सूची

शुद्धिपत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
से भेद का	भेद से	३	१४
प्रतिग्रहः ।	प्रतिग्रहः । (भाग० ८।१९।१७)	८	१५
मनुस्मृति ४।१३७	मनुस्मृति ४।१७३	१२	९
भगवान्	भगवान् रूप गुरु	३१	३
नाम	नाम भी	३३	१६
तथा यदि	यदि	३४	१५
समह	समूह	३४	१६
माता पिता	(मातापिता)	३५	४
मनोहस	मनोहरा	४४	२
लायक	लायक हैं	४५	९
महाभारत का	महाभारतकार	६०	९
इसी	ऐसी	७४	८
पुरुषार्थ का	पुरुषार्थ की	७५	१
सम्प्रसूयते	सम्प्रसूयन्ते (अर्थवशिखो० २।१६)	७९	२३
उनकी भी	उनकी	८५	१
काहु त	काहु न	९५	७
(६।८३)	(६।८२ भाग० माहात्म्य)	११२	१५
कर्तरि	प्रयोक्तरि	११७	१७
३५।४१	३५।४५	११५	१९
गीता ४।२०	गीता ३।२०	१२७	२३
भिक्षाचण	भिक्षाचरण	१३५	११

गीता ३।८ में	गीता ३।८ में वे नीलकंठजी	१३६	११
शरीर	मानवशरीर	२३६	२१
तो	अत:	१३८	१७
पिता का	पिता	१५१	१
गीता ४।३८	गीता ४।३९	१६५	१०
मनुष्यों को	मनुष्यों को जल का	१८०	६
सहयोग से	सहयोग	१८२	१२
तत्त्वज्ञानी	वे तत्त्वज्ञानी	१८९	४
विज्ञान के विचार	विज्ञान के	१९०	१२

ॐ

श्रीगणेशाय नमः

मङ्गलाचरणम्

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः॥

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

नान्या स्पृहा रघुपते! हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव! निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वरः
त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिः
वितर्कलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्॥

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

ॐ

साधक-शङ्का-समाधान

धन की इच्छा करनी चाहिए या नहीं

शङ्का—(१) धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयोऽस्पर्शनं नृणाम् ।।
(वनपर्व २।४९)

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाऽधनो धनम् ।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ।।
(भाग० ७।१५।१५)

(२) योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ।।
(मनुस्मृति ११।१९), (शान्तिपर्व १२२।४; १३६।७)

दत्तस्य हि पुनर्दाने सुमहत्फलमुच्यते ।
(वाल्मी० रामा० ७।७६।३१)

अर्थ—(१) धर्मकार्य के लिए भी जो धन चाहता है उसके लिए भी धन की इच्छा न करना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि कीचड़ लगाकर धोने की अपेक्षा मनुष्य का उसे न छूना ही श्रेष्ठ है। निर्धन मनुष्य धर्म के लिए या जीवननिर्वाह के लिए भी धन की इच्छा न करे। इच्छारहित की वह अनिच्छा ही अजगर की तरह जीवनयोग्य वृत्ति (जीविका) देनेवाली होती है।

(२) जो मनुष्य (धर्मकार्य में धन न लगानेवाले) असाधुओं से धन लेकर साधुओं को देता है वह अपने को नौका बना कर दोनों को तार देता है। दिये हुए पदार्थ का पुनः किसी को दान कर देने पर महान् फल होता है।

ऊपर लिखे दो प्रकार के शास्त्रवचनों में विरोध प्रतीत होता है। प्रथम में धर्मकार्य के लिए भी धन की इच्छा का न होना श्रेष्ठ कहते हैं। इसके विरुद्ध द्वितीय वचन दूसरों से धन लेकर भी साधुओं को देने की प्रशंसा करते हैं। इस विरोध का क्या समाधान है?

समाधान—प्रथम वचन विरक्त, भजन-ध्यानपरायण संन्यासी के लिए कहे गये हैं। क्योंकि वह यदि धनप्राप्ति की चेष्टा तथा धन प्राप्त कर उसके सदुपयोग का प्रयत्न करेगा तो उसके भजन-ध्यान में बाधा होगी। द्वितीय वचन प्रवृत्तिपरायण व्यक्ति के लिए कहे गये हैं। क्योंकि असाधु से धन लेकर साधु को देने से जो परोपकार होगा उससे उसका भी कल्याण होगा। इस प्रकार अधिकार से भेद का विचार करने पर विरोध नहीं रह जाता।

संभोग से वैराग्य होता है या नहीं

शङ्का—(१) अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः ।
(भाग० ९।१८।४०)

एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया ।
विरज्येत् यथा राजन् नाग्निवत् कामबिन्दुभिः ।।
(भाग० ७।११।३४)

(२) न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।
(भाग० ९।१९।१४), (विष्णु० पु० ४।१०।२३), (मनु० २।९४),
(आदिपर्व ७५।५०; ८५।१२)

अर्थ—(१) ग्राम्यधर्म (मैथुन) का अनुभव किये बिना पुरुष को उनसे वितृष्णा नहीं होती। हे राजन् ! कामुक चित्त काम (मैथुन) का अतिसेवन करने से जैसा विरक्त होता है वैसा कामबिन्दु (थोड़े मैथुन) से नहीं होता। जैसे अग्नि बूंद बूंद घृत से शान्त नहीं होती।

(२) काम के अतिभोग से काम शान्त नहीं होता, किन्तु अग्नि की तरह और बढ़ता ही है।

यहाँ प्रथम भाग में अतिभोग से वैराग्य होना बताया है, द्वितीय भाग में अतिभोग से कामवृद्धि ही बताई है। इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—मन में अतिकामुकता तथा शरीर में बल-वीर्य की अधिकता होने पर काम प्रवृद्ध अग्नि के समान बलवान् होता है, उसे कामसुखरूप वृत शान्त न करके बढ़ाता ही है। इस दृष्टि से द्वितीय भाग में भोग से कामवृद्धि बताई है। जिनके शरीर में बल-वीर्य की अधिकता नहीं, अतएव मन में विषय-लालसा भी अधिक नहीं, ऐसे मन्द कामाग्निवाले पुरुष यदि अतिभोग करते हैं तो उन्हें ग्लानि, श्रम, रोग आदि से दुःख होकर वैराग्य-सा हो जाता है। इसी लिए कहा है कि 'विषयों की तीक्ष्णता अर्थात् कष्टदायिता को स्वयं अनुभव किए बिना नहीं जानता, कटुता का अनुभव कर लेने पर जैसा स्वयं वैराग्य होता है वैसा दूसरे के द्वारा बुद्धि-विचलित करने पर नहीं होता—

नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम् ।
निर्विद्येत स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः ॥

(भाग० ६।५।४१)

इस दृष्टि से प्रथमभाग में अतिभोग से वितृष्णा बताई है। अतः अधिकारी भेद से दोनों वचन ठीक ही हैं।

तात्पर्य यह है कि मन में अतिकामुकता तथा तन में बल-वीर्य की अधिकता होने पर अतिसंभोग से श्रमादि कष्ट की अपेक्षा सुख अधिक होने से राग बढ़ता है, क्योंकि सुख ही सर्वत्र रागवर्धक होता है एवं मन में अल्पकामुकता तथा तन में बल-वीर्य की न्यूनता होने पर अतिसम्भोग से सुख की अपेक्षा श्रमादि कष्ट (दुःख) अधिक होता है, इससे वैराग्य होता है, क्योंकि सर्वत्र दुःख ही वैराग्यजनक होता है। अतः कामुकता की न्यूनता तथा अधिकता के भेद से दोनों भागों के वचन सङ्गत हैं, विरुद्ध नहीं।

उपवास तप है या नहीं

शङ्का—(१) ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः ।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ॥

(वनपर्व २००।९९)

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः ॥

(वनपर्व २६०।२५), (शान्तिपर्व २५०।४)

(२) अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च ।
सदोपवासी स भवेत् यो भुङ्क्ते नान्तरा पुनः ॥

(शान्तिपर्व २२१।१०), (अनु० पर्व० ९३।१०)

तपो नानशनात् परम् ।

(शान्तिपर्व १६१।७)

अर्थ—(१) जो लोग मन, वचन, कर्म और बुद्धि से पाप नहीं करते वे महात्मा ही तप करते हैं, शरीर का शोषण (उपवास) करनेवाले नहीं। मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता ही परमतप है।

(२) प्रातः तथा सायंकाल को ही जो भोजन करते हैं बीच में फिर नहीं खाते, वे सदा उपवास करनेवाले ही हैं। उपवास से बढ़ कर कोई तप नहीं है।

यहाँ प्रथम भाग में शरीरशोषण (उपवास) को तप नहीं माना किन्तु द्वितीय भाग में उपवास को परम तप कहा है। इतना ही नहीं, किन्तु संयमपूर्वक दो बार भोजन को भी तपतुल्य माना है। इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते किन्तु प्रकृतस्य प्रशंसार्थम्' अर्थात् निन्दा निन्दनीय की निन्दा करने के लिए नहीं होती, किन्तु जिसका प्रकरण होता है उसकी प्रशंसा करने के लिए होती है। इस न्यायानुसार प्रथम भाग में पाप न करने तथा इन्द्रिय-संयम की प्रशंसा करने के लिए ही उन्हें परम तप कहा है और शरीरशोषण (उपवास) की निन्दा की है। शास्त्रविधि से किया उपवास ही मुख्यरूप से तप शब्द का अर्थ है। यही कारण है कि कृच्छ्र, प्राजापत्य आदि तपों में उपवास की प्रधानता होती है। इस-लिए उपवास को परम तप द्वितीय भाग में कहा है। इसके अतिरिक्त निवृत्तिमार्ग से चलनेवाले के लिए उपवास ही परम तप है, यह बात उसी श्लोक में 'निवृत्त्या वर्तमानस्य' पदों से कही है।

दूसरा समाधान यह है कि जो लोग पाप कर्मों से बचने तथा मन और इन्द्रियों को वश में करने के लिए नहीं, किन्तु लोकप्रसिद्धि आदि के लिए शास्त्रविधि का त्याग कर शरीरशोषक उपवास करते हैं. जो कि गीता (१७।६) के अनुसार भूतों तथा शरीर में स्थित पर-मात्मा को कर्षित करनेवाला होने से वस्तुतः निन्दनीय है। उस शास्त्रनिषिद्ध शरीरशोषक उपवास की ही निन्दा प्रथम भाग में की गई है और द्वितीय भाग में शास्त्रविहित उपवास को ही परम तप कह कर उपवास की प्रशंसा की है।

प्राप्त का त्याग करना चाहिए या नहीं

शङ्का—(१) उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः॥
(भागवत ३।२२।१२), (उद्योगपर्व ३९।४४)

(२) प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम्।
ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान्॥
(याज्ञ० स्मृ० १।२१३)

अर्थ—(१) स्वयंप्राप्त कामपदार्थों का त्याग करना अनासक्त-पुरुष के लिए भी प्रशंसनीय नहीं, कामासक्त की तो बात ही क्या।

(२) प्रतिग्रह का ग्रहण करने में समर्थ होकर भी जो प्रतिग्रह (दान) नहीं ग्रहण करते, वे दानशीलों के पुष्कल लोकों को प्राप्त करते हैं।

यहाँ प्रथम भाग में स्वयंप्राप्त के त्याग की निन्दा की है। द्वितीय भाग में त्याग की प्रशंसा की है। इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—भागवत के ऊपर लिखे श्लोक के आगे का श्लोक इस प्रकार है—

य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः॥
(भाग० ३।२२।१३)

अर्थ—जो प्राप्त का अनादर करके किसी कृपण से याचना करता है, उसका विस्तृत यश नष्ट हो जाता है तथा अपमान होने से सम्मान भी नष्ट हो जाता है।

यहाँ 'अभियाचते' अर्थात् 'याचना करता है' इस वाक्य पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वश्लोक में आये 'निर्मुक्तसङ्ग' शब्द से बाहर से 'अनासक्त' अर्थ लेना ही ठीक है। यदि वह भीतर से भी अनासक्त होता तो क्यों किसी से याचना करता। अतः दोनों श्लोकों को मिलाकर यह भाव निकलता है कि 'जो बाहर से अनासक्त किन्तु भीतर से आसक्त है, उसे स्वतः प्राप्त इच्छित पदार्थ का त्याग नहीं करना चाहिए'। सो सर्वथा ठीक ही है।

द्वितीय भाग में जो भीतर से भी अनासक्त होने के कारण दान के सुपात्र हैं, वे स्वतः प्राप्त पदार्थों का, जो कि केवल लौकिक सुख देनेवाले हैं, त्याग करके अलौकिक सुख प्राप्त करें। इस दृष्टि से प्रतिग्रह के त्याग का कथन भी ठीक ही है। क्योंकि स्वतः प्राप्त अनावश्यक पदार्थों का ग्रहण न करके जो केवल जीवन-निर्वाहक आवश्यक पदार्थों का ही ग्रहण करते हैं, उन विद्वानों को पाप नहीं लगता—

नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थप्रतिग्रहः।

भागवत के इस कथन पर उन कथित विरक्तों को ध्यान अवश्य देना चाहिए जो यह कहते हैं कि हम किसी से माँगते नहीं, अपने आप जो आ जाता है, उसे भोगने में क्या हानि है?

इस प्रकार प्रथम भाग में बाहर से अनासक्त किन्तु भीतर से आसक्त के त्याग की निन्दा की गई है। दूसरे में भीतर से अनासक्त के त्याग की प्रशंसा की गई है। अतः यहाँ कुछ भी विरोध नहीं है।

श्रद्धालु कृपण का अन्न ग्राह्य या अग्राह्य

शङ्का—(१) 'वार्धुषिकस्य च···कदर्यस्य'

(मनु० ४।२१०)

आवश्यकता से अधिक ब्याज लेने पर ब्याजखोर एवं आवश्यकता से अधिक मुनाफा लेने पर मुनाफाखोर कहा जाता है जो कि निन्दनीय है। उचित मात्रा में लेने को शास्त्रों में कहा है।

(२) श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः।

(मनु० ४।२२४)

श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।

(मनु० ४।२२५), (महाभारत शान्तिपर्व २६४।१२)

अर्थ—(१) वृद्धिजीवी (व्याजखोर) का तथा कंजूस का (अन्न अग्राह्य है)। (२) कंजूस श्रोत्रिय विद्वान् तथा उदार व्याजखोर के अन्न में से उदार व्याजखोर का अन्न श्रद्धायुक्त होने से पवित्र है और कंजूस विद्वान् का अश्रद्धा से युक्त होने से दूषित है (अतः अग्राह्य है)।

यहाँ प्रथम भाग में व्याजखोर के अन्न को अग्राह्य बताया है। दूसरे भाग में पवित्र अर्थात् ग्राह्य बताया है। इस विरोध का क्या समाधान है?

समाधान—मनुस्मृति ४।२१० श्लोक में कृपण तथा व्याजखोर दोनों के अन्न को अग्राह्य बताया गया है, अतः ४।२२४-२५ श्लोकों का तात्पर्य उन्हें ग्राह्य बताने में नहीं हो सकता। **उनका तात्पर्य तो श्रद्धा के विधान में ही है।** अतः श्रद्धा से देना चाहिए, क्योंकि श्रद्धा वस्तु को पवित्र कर देती है।

दुष्कुल की कन्या ग्राह्य या नहीं

शङ्का—(१) स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि

(मनु० २।२३८), (शान्तिपर्व १६५।२२)

(२) हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम्॥

(मनु० ३।१५)

अर्थ—(१) दुष्कुल से भी स्त्रीरूप रत्न ग्रहण करना चाहिए ।

(२) जो द्विजाति अविवेक से हीन जाति की स्त्री के साथ विवाह करते हैं, वे अपनी सन्तानों सहित कुलों को शूद्र बना देते हैं ।

यहाँ प्रथम भाग में दुष्कुल अर्थात् नीचजाति की कन्या ग्रहण का विधान है । द्वितीय भाग में उसका निषेध है । इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—प्रथम भाग में दुष्कुल का अर्थ नीचजाति नहीं है, किन्तु अपने से जो विद्या, धन आदि में निकृष्ट हैं ऐसे कुल को ही दुष्कुल कहा है । अतः कोई विरोध नहीं । कलियुग में असवर्ण में विवाह करना द्विजों के लिए मना है । इसलिए भी दुष्कुल का अर्थ नीचजाति न करके निकृष्ट कुल ही करना उचित है ।

'द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा'

(निर्णयसिन्धुः कलिवर्ज्यप्रकरणे)

अल्पदान महादान

शङ्का—कोई धनी व्यक्ति वेदज्ञ सुपात्र ब्राह्मण को, पूर्णिमा आदि पवित्र काल में, प्रयागादि पवित्र तीर्थ में, न्याय से उपार्जित धनादि का अधिकमात्रा में निष्काम भाव से महान् दान करता है । दूसरा निर्धन व्यक्ति उसी सुपात्र को उसी देश, काल में उसी भाव से अपने भोजन का एक अंश मात्र अल्पदान करता है, तो दोनों के फल में अन्तर होगा या नहीं ? क्या कहीं अल्पदान का महान् फल भी होता है ?

समाधान—अन्तर नहीं होगा । महाभारत में कहा है—कि हजार की शक्तिवाला सौ, सौ की शक्तिवाला दश तथा अपनी शक्ति के अनुसार केवल जो जलमात्र का दान करता है, उसको समान फल मिलता है ।

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ।।

(आश्वमेधिकपर्व ९०।९७)

इसका कारण यह है कि हजार का दशांश सौ होता है, एवं सौ का दशांश दस होता है । इस प्रकार दोनों ने अपने द्रव्य का दशांश ही दिया है, अतः दोनों को समान फल होना ही चाहिए । अपनी शक्ति के अनुसार जैसे इन दोनों ने दशांश दिया है, वैसे ही तीसरे ने अपनी शक्ति के अनुसार जलदान किया है, अतः उसे भी समान फल मिलना उचित ही है । जो अपने अति-आवश्यक जीवन-निर्वाहक अन्न-पान का दान जीवन को महान् संकट में डाल कर करता है, उसको तो उस अल्पदान का महान् फल महादान से भी अधिक मिलता है । इसका कारण यह है कि लाखों रुपयों का दान करनेवाले करोड़पति को तो उस महादान के कारण एक पहर भी भूखा नहीं रहना पड़ता, जीवन में कोई संकट नहीं आता । इसी बात को बताने के लिए महाभारत में सत्तुयज्ञ की तथा भागवत में रन्तिदेव के जलदान की कथा है ।

कर्ता को ही फल मिलता है या अकर्ता को भी

शङ्का–(१) 'शास्त्रफलं तु प्रयोक्तरि'

(जैमिनिसूत्र)

नान्यस्तदश्नाति...स एव कर्ता ।

(उद्योगपर्व १२३।२२)

तत् कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र हि ।

(शान्तिपर्व १५३।४१)

(२) पापकर्मकृतं किञ्चित् यदि तस्मिन् न दृश्यते ।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ।।
(शान्तिपर्व १३९।२२)

अर्थ—(१) शास्त्र कथित फल प्रयोक्ता अर्थात् कर्त्ता को मिलता है। दूसरा कोई फल नहीं भोगता, वह कर्त्ता ही भोगता है। उसे कर्ता ही भोगता है इसमें बन्धुओं का क्या ?

(२) किये गये पापकर्म का फल यदि उस कर्ता में नहीं दीखता तो हे राजन् ! उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों को मिलता है। (ऐसा ही मनुस्मृति ४।१३७ में भी कहा है)।

यहाँ प्रथम भाग में 'कर्ता ही को फल मिलता है' ऐसा कहा है, किन्तु दूसरे भाग में कर्ता से अन्य अकर्ता पुत्रों आदि को भी फल मिलने की बात स्पष्ट कही है। इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—'कर्ता को ही फल मिलता है' यह नियम ही स्वाभाविक है। क्योंकि यह नियम शास्त्रकथित कुछ अपवाद के स्थलों को छोड़कर सर्वत्र लागू होता है। यही कारण है कि श्राद्धकर्म का कर्ता पुत्र किन्तु फलभोक्ता अकर्ता पिता होता है एवं जातकर्म का कर्ता पिता किन्तु फलभोक्ता अकर्ता पुत्र होता है। इसी प्रकार पिता के किये पाप-पुण्य का फल कहीं पुत्र-पौत्रों को प्राप्त होता है। इसे एक लौकिक उदाहरण से समझो, 'जो व्यक्ति बैंक में पैसा जमा करता है, वही निकाल सकता है' ऐसा सामान्य नियम है, परन्तु 'उस व्यक्ति के मर जाने पर पैसा जमा न करनेवाले पुत्र, पत्नी आदि भी निकाल सकते हैं'। जैसे यह बैंक के विशेष नियमानुसार ठीक है। वैसे ही शास्त्र के सामान्य नियमानुसार 'कर्ता को ही फल मिलता है' किन्तु कथित अपवादात्मक विशेष स्थलों में

अकर्ता को भी फल मिलता है, यह बात भी शास्त्र कथित विशेष नियमानुसार होने से ठीक है।

विविध आयु प्रमाण

शङ्का—(१) 'शतायुर्वै पुरुषः (वेद)

(२) अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतायुगे त्वेषां पादशो ह्रसते वयः ।।
(शान्तिपर्व २३१।१५), (मनु० १।८३)

(३) यावद् यावदभूत् श्रद्धा देहं धारयितुं नृणाम् ।
तावद् तावदजीवंस्ते नासीद् यमकृतं भयम् ।।
(शान्तिपर्व २०७।३७)

अर्थ—(१) पुरुष की आयु सौ वर्ष है। (२) सर्वसिद्धार्थयुक्त रोगरहित होकर चार सौ वर्ष की आयु सत्ययुग में होती है। तीन सौ वर्ष की त्रेता में, दो सौ वर्ष की द्वापर में और एक सौ वर्ष की आयु कलियुग में होती है। (३) जितनी जितनी देहधारण की श्रद्धा (इच्छा) मनुष्य को होती थी, उतने उतने वर्ष वे जीते थे, उन्हें यमराज का भय नहीं था।

इन शास्त्र वचनों में कथित विविध आयु प्रमाणों की संगति क्या है ?

समाधान—प्रथम भाग में कथित 'शत' (सौ) वर्ष शब्द 'बहुत' का वाचक या उपलक्षक है, ऐसा मन्वर्थमुक्तावली टीका में कहा है। स्मृति में भी कहा है कि 'दश शतं सहस्रं वै सर्वमक्षयवाचकम्'। अतः न्यूनाधिक आयु का भी ग्रहण सौ में हो जाता है अथवा कलियुग की आयु का कथन करनेवाला 'शत' शब्द है।

द्वितीय भाग में कथित ४-३-२-१ सौ वर्ष की आयु युगानुरूप आयु का कथन है। तृतीय भाग में इच्छानुसार आयु का कथन विशेष पुण्यशाली महापुरुषों की दृष्टि से किया गया है। स्व-स्व-कर्म-धर्म के ह्रास-विकास से आयु का भी ह्रास-विकास होता है, ऐसा योगवासिष्ठ में कहा है—

स्वकर्मधर्मे ह्रसति ह्रसत्यायुर्नृणामिह ।
वृद्धे वृद्धिमुपायाति सममेव भवेत् समे ॥

(उत्पत्ति प्रक० ५४।३०)

यही कारण है कि इस घोर कलियुग में भी कुछ लोग सौ वर्ष से न्यून या अधिक जीते हैं तथा सतयुग आदि में भी युगानुरूप कथित ४-३-२ सौ वर्षों से न्यून या अधिक वर्ष जीते थे। अचिन्त्य प्रारब्ध का वैचित्र्य भी न्यून या अधिक आयु का हेतु होता है।

डाका डाल कर दान करना

शङ्का—जो लोग डाका डाल कर सम्पूर्ण धन का सुपात्रों में दान कर देते हैं, उनको दान का फल मिलता है या नहीं? डाका डालने का पाप लगता है या नहीं?

समाधान—जो लोग प्रत्यक्ष में (डाका डाल कर) धन-हरण करके बाद में दान कर देते हैं। उन दाताओं को नरक जाना पड़ता है। दान का फल तो जिसका वह धन होता है उसी को प्राप्त होता है। ऐसा मत्स्यपुराण में कहा है।

प्रत्यक्षं हरते यस्तु पश्चाद्दानं प्रयच्छति ।
स दाता नरकं याति यस्यार्थः तस्य तत्फलम् ॥

इसी प्रकार जो परोक्ष में अर्थात् चोरी, चतुराई, कपट, छल, मिलावट आदि शास्त्रनिषिद्ध अन्याय के मार्ग से धन उपार्जन करके

दान करते हैं, उन्हें भी दान का फल नहीं मिलता। ऐसा शातातप स्मृति में कहा है—

द्रव्येणान्यायलब्धेन यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
न तत्फलमवाप्नोति तस्यार्थस्य दुरागमात् ॥

स्त्री को व्रत तीर्थादि करना चाहिए या नहीं

शङ्का—जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम् ।
देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट् ॥

(अत्रि० स्मृ० १३३)

अर्थ—जप, तप, तीर्थयात्रा, संन्यास, मन्त्रसिद्धि तथा देवता-आराधना ये छः कर्म स्त्री तथा शूद्रों के लिए पतनकारी हैं।

यहाँ जप, तप आदि पावन साधनों को भी स्त्री के लिए पतनकारी क्यों बताया गया है?

समाधान—स्त्री का परम व्रत तथा तप है पति की सेवा करना। अतः पतिसेवा में जिनसे बाधा हो ऐसे व्रत, तप आदि को ही स्त्री के लिए पतनकारी कहा है। पतिसेवा में बाधा न पहुँचानेवाले व्रत, तप आदि साधना तो पतन के नहीं किन्तु उत्थान के हेतु हैं। इसी लिए हरिवंश के विष्णुपर्व में कहा है—'पति की इच्छा से नारी को तप, व्रतादि करना चाहिए। पति की इच्छा विना जो करती है वह सब निष्फल है।

भर्तुश्छन्देन नारीणां तपो वा व्रतकानि वा ।
निष्फलं खलु यद्भर्तुरच्छन्देन क्रियेत हि ॥

(हरि० विष्णु० ६६।५४)

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि जो स्त्रियाँ पति की इच्छा के विरुद्ध ही नहीं, किन्तु उनके स्पष्ट मना करने पर, उन्हें अर्थ-सङ्कट में डालकर भी शृङ्गार के चटकीले-भड़कोले कीमती वस्त्रा-भूषण खरीदती तथा धारण करती हैं, कामुक सिनेमा, टेलीविजन देखती हैं, उत्तेजक रेडियो के गीत श्रवण करती हैं, मदनमदजनक मद्य, मांस, प्याज, लहसुन और अण्डा खाती हैं, पर-पुरुषों का स्पर्श करते हुए मोहक बातें करती हैं, कामवर्धक सुगन्ध माला धारण करती हैं। ऐसी स्त्रियां हरिदर्शन, हरिसङ्कीर्तन, हरिप्रसाद, चरणा-मृत, माला आदि धारण नहीं करती हैं और इसमें कारण बताती हैं कि मेरे पतिदेव मना करते हैं। ऐसी स्त्रियों का पतन ही नहीं, किन्तु महापतन होता है।

पति की सेवा में जरा भी बाधा न पहुँचाने पर भी यदि पति नास्तिकता वश अश्रद्धा या दुष्टता के कारण पत्नी को जप, व्रतादि करने के लिए मना करता हो, तो उसकी आज्ञा का अतिक्रमण करके गोपियों को तरह व्रत, देवाराधन आदि करने पर स्त्रियों का पतन नहीं, किन्तु उत्थान ही होता है। क्योंकि देवाराधन आदि पावन साधनों का निषेध तो पति-सेवारूप मुख्य साधन में बाधा होने पर ही किया गया है। पतिसेवा में बाधा न होने पर ये साधन स्त्रियों के ही नहीं, किन्तु उनके पतियों के भी उत्थान में सहायक ही होंगे।

पति की ही तरह सास-श्वसुर, माता-पिता, गुरु आदि की सेवा में बाधा न होते हुए भी यदि ये लोग नास्तिकता आदि के कारण हरिभजन आदि पावन साधन की आज्ञा न दें तो उनकी भी आज्ञा न मानने से कोई दोष नहीं होता। इसी लिए सन्त तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका में कहा—

'गुरु बलि तज्यो कन्त ब्रजबनतन्हि भये जगमङ्गलकारी'
(विनयपत्रिका पद १७४)

स्त्री और शूद्र को पुराण पढ़ना चाहिये या नहीं

शङ्का—स्त्री शूद्रो न पठेदेतत् कदापि च विमोहितः।
शृणुयाद् द्विजवक्त्रात्तु नित्यमेवेति च स्थितिः॥
(देवीभागवत १२।१४।२४)

पुराणपठनं वेदपठनं नापि चाचरेत्।
विप्रं क्षत्रं विशं वापि पाठयेन्न कदाचन॥
(बृहद्धर्मपुराणे)

अर्थ—स्त्री तथा शूद्र मोहवश कभी भी इसे न पढ़ें। ब्राह्मण के मुख से नित्य ही श्रवण करें, यह स्थिति (मर्यादा) है। पुराण तथा वेदों का पठन न करें, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को कभी भी न पढ़ायें।

इन शास्त्रवचनों में तो स्पष्ट ही कहा है कि स्त्री, शूद्र को पुराणों का भी पठन-पाठन नहीं करना कराना चाहिए। किन्तु लोक-व्यवहार में तो सर्वत्र ऐसा देखने में आता है कि स्त्री, शूद्र भी पुराणों का पठन-पाठन करते कराते हैं। शास्त्रमर्मज्ञ कहे जानेवाले प्रसिद्ध विद्वान् महात्मा भी उन्हें पुराणों के पठन-पाठन की आज्ञा देते हैं। अतः शङ्का होती है कि पुराणों का पठन-पाठन स्त्री तथा शूद्रों को करना चाहिए या नहीं।

समाधान—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा॥
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥
(भाग० १।४।२५)

अर्थ—स्त्री, शूद्र और हीनद्विज वेद-श्रवण नहीं कर सकते। कल्याणसाधन कर्म में अनधिकारी इन लोगों का इस प्रकार कल्याण होगा, ऐसा विचार कर महाभारत की रचना कृपा करके मुनि व्यासजी ने की है।

भागवत के इस कथन से अति स्पष्ट है कि इतिहास तथा पुराण की रचना मुख्य रूप से स्त्री, शूद्रों के कल्याण के लिए ही की गई है, अतः वे इन्हें अवश्य पढ़ सकते हैं। इसलिए ऊपर लिखे पुराण पठन पाठन के मना करनेवाले शास्त्रवचनों का तात्पर्य कुछ विद्वान् यह बतलाते कि ब्राह्मण की तरह जीविका उपार्जन के लिए तथा व्यास-आसन लगाकर पठन-पाठन स्त्री, शूद्रों को नहीं करना-कराना चाहिए। अपने कल्याण के लिए पठन-पाठन तो कर ही सकते हैं।

शङ्का—गीता १३।१३ में जो 'सर्वतः पाणिपादम्' श्लोक है, वह अक्षरशः उसी आनुपूर्वी सहित श्वेताश्वतर उपनिषद् के ३।१६ में है। अतः वेदमन्त्र ही है, इसे गीतापाठ करनेवाले स्त्री-शूद्र पढ़े या नहीं ?

समाधान—ऐसे वेद-मन्त्रों को भी स्त्री, शूद्र पढ़ सकते हैं, क्योंकि शाण्डिल्य भक्तिमीमांसासूत्र के स्वप्नेश्वरीय भाष्य में कहा है कि 'उन्हीं वैदिक मन्त्रों का, जिनका महाभारत आदि में निवेश है, स्वाध्याय के नियमों को छोड़ कर केवल लौकिक बुद्धि से प्रयोग किया गया है—

तानेव वैदिकान् मन्त्रान् भारतादिनिवेशितान्।
स्वाध्यायनियमं हित्वा लोकबुद्धया प्रयुञ्जते॥

तात्पर्य यह है कि गुरुमुख से घन-जटा-पाठ आदि नियमों के विना वे मन्त्र जब उच्चारण किये जाते हैं, तब उनमें वेदमन्त्रत्व नहीं रह जाता, अतः उन्हें स्त्री-शूद्र पढ़े तो कोई दोष नहीं है।

विश्वास करना चाहिए या नहीं

शङ्का—न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।

(उद्योगपर्व ३८।९), (शान्तिपर्व १३८।१४४,१९४;१३९।२९)

विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥

(उद्योगपर्व ३८।९), (आदिपर्व १४९।६२)

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते॥

(शान्तिपर्व ८०।१०)

अर्थ—अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासी पर भी **अति** विश्वास न करे, क्योंकि (अति) विश्वास से भय उत्पन्न होता है, जो मूल को भी काट देता है। **पूर्ण** विश्वास सम्पूर्ण धर्म-अर्थ का नाशक है तथा **सर्वत्र** अविश्वास करना मृत्यु से भी बढ़कर है। विश्वास किए बिना तो जीवन-यात्रा ही नहीं चल सकती, किन्तु इन शास्त्र-वचनों में विश्वास करना अच्छा नहीं माना, इसका क्या कारण है ? पुनः अविश्वास करना भी अच्छा नहीं माना, इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—आप की शङ्का का समाधान मूलश्लोकों में ही **'अति' 'एकान्त'** अर्थात् **'पूर्ण' 'सर्वत्र'** शब्दों के प्रयोग से कर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त पूर्ण विश्वास सर्वत्र करने से धर्म-अर्थ का नाश होने की बहुत अधिक सम्भावना रहती है। देखिए—कोई अज्ञात कुलशीलवाला अपरिचित व्यक्ति घर पर आए, तो उसपर अत्यन्त पूर्ण विश्वास करके अपने तन-मन-धन-का पूर्ण विवरणपूर्वक परिचय दे देना तथा अपनी युवती पत्नी-बहू-बेटी को उसकी एकान्त सेवा में नियुक्त कर देना सम्पूर्ण धर्म-अर्थ का नाश कर सकता है। इसी लिए शास्त्र में कहा है कि—

'अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कर्हिचित्'

दूसरों पर ही नहीं किन्तु अपने ऊपर भी सर्वत्र अत्यन्त पूर्ण विश्वास उच्चकोटि के साधक को भी नहीं करना चाहिए। देखिए—यदि कोई उच्चकोटि का साधक यह विचार करे कि मैंने बरसों इन्द्रिय-संयम किया है, अब मेरा पतन नहीं हो सकता, मैं किसी भी युवती सुन्दरी के साथ एकान्त में एकासन पर शयन कर सकता हूँ। ऐसा अपने पर अत्यन्त पूर्ण विश्वास करनेवाले उच्चकोटि के साधक का धर्म अवश्य नष्ट हो जायेगा। परायी युवती के साथ ही नहीं, किन्तु अपनी माता, बहन, बेटी के साथ भी एकान्त एकासन पर शयन से पतन होने की सम्भावना रहती है। इसीलिए भागवत में इसका निषेध किया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा ना विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

(भाग० ९।१९।१७), (मनु० २।२१५)

अर्थ—माता, बहन, बेटी के साथ एकासन पर न बैठे, क्योंकि इन्द्रियाँ अति बलवान् हैं, ये विद्वानों को भी खींच लेती हैं।

दूसरों पर सर्वत्र अत्यन्त अविश्वास करने पर तो जीवन-यात्रा चल ही नहीं सकती। इसी लिए इसे मृत्यु से बढ़कर हानिकर बताना ठीक ही है। दूसरों पर ही नहीं किन्तु अपने ऊपर भी अत्यन्त अविश्वास करना मृत्यु से बढ़ कर हानिकर है। देखिए—ऐसे व्यक्ति को अपने घर पर माता, बहन, बेटी के भी सामने जाने में यह चिन्ता होगी कि मैं इनके साथ गलत कार्य न कर बैठूँ। अन्य सभी व्यवहार के कार्य में यह भी चिन्ता होगी कि कहीं मैं तन-धन का विनाश करनेवाला कार्य न कर बैठूँ। ऐसी चिन्ता तो चिता से भी अधिक नाशक है।

तात्पर्य यह है कि अपने ऊपर या दूसरों के ऊपर **सर्वत्र अत्यन्त पूर्ण** विश्वास और अविश्वास दोनों ही जीवनयात्रानाशक महाहानि-कारक होने से दोनों का निषेध किया है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का चित्त अत्यन्त चञ्चल होने से उसपर **अत्यन्त विश्वास** नहीं करना चाहिए। यह बात भी वहीं पहले के श्लोक में स्पष्ट कह दी है। देखिये—

असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥
अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत्।

(शान्तिपर्व ८०/८, ९)

अर्थ—असाधु साधु हो जाता है, साधु दुष्ट हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है, मित्र भी द्वेष करने लगता है। क्योंकि पुरुष का चित्त अनित्य अर्थात् चञ्चल है, इसलिए इसपर कौन (पूर्ण) विश्वास करेगा ?

ये सब बातें शास्त्र में कथित होने से ही नहीं, किन्तु व्यवहार में सर्वत्र अनुभवसिद्ध होने से भी आदरणीय तथा अनादरणीय हैं।

शङ्का—तो क्या अत्यन्त पूर्ण विश्वास कहीं नहीं करना चाहिए ?

समाधान—इसका समाधान वहीं आगे के श्लोक में दिया है कि—जिसके बारे में ऐसी मान्यता हो कि मेरे अभाव में इसका अभाव हो जायेगा, उसपर (पूर्ण) विश्वास करे, जैसे पिता पर वैसे ही उसपर विश्वास करे—

यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति ।
तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ।।
(शान्तिपर्व ८०।१७)

कोटि-कोटि पिताओं से भी अधिक हितकारी परमपिता परमात्मा, उनकी आज्ञारूप वेदशास्त्रों तथा इन वेदशास्त्रों के तात्पर्यानुसार मार्ग बतानेवाले गुरुजनों पर तो पूर्ण विश्वास करना ही चाहिए, यह बात तो स्वयंसिद्ध हो जाती है ।

'विश्वसनीय पर भी अति विश्वास नहीं करना चाहिए' ऐसा कथन राजनीति के प्रसङ्ग में भी किया गया है । सो तो सर्वथा ही ठीक है, क्योंकि राजा आदि विशिष्ट पदाधिकारियों के अनेकानेक शत्रु रहते हैं, उनके सङ्कटग्रस्त हो जाने पर प्रजा भी सङ्कटग्रस्त हो जाती है । अतः राजा आदि को सदा सावधान चौकन्ने रहने की आवश्यकता रहती है । इसलिए उन्हें विश्वसनीयों पर भी अति विश्वास न करने की बात शास्त्र में कही गई है ।

ज्ञान होने पर सन्देह रहता है या नहीं

शङ्का–(१) तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।
(गीता० ४।४२)

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।
(गीता० ५।१६)

(२) बाल्याद्वा संशयाद्वापि भयाद्वाप्यविमोक्षजात् ।
उत्पन्ने चापि विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् ।।
व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः ।
विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम् ।।
भवांश्चोत्पन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः ।
व्यवसायादृते ब्रह्मन्नासादयति तत्परम् ।।'
(शान्तिपर्व ३२६।४५-४७), (नारद पु० पूवार्ध० ५९।४२-४४)

अर्थ (१) हे अर्जुन ! इसलिए आप अज्ञान से उत्पन्न इस हृदयस्थ संशय को ज्ञान रूप तलवार से काटकर योग में आरूढ़ हो जाओ । जिन्होंने अपने अज्ञान का ज्ञान द्वारा नाश कर दिया है, उनका वह ज्ञान सूर्य की तरह परमपद को प्रकाशित कर देता है ।

(२) (राजा जनक शुकदेवजी से कहते हैं) बाल्यावस्था या संशय या भय अथवा मोक्षाभाव के कारण ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी उस गति को प्राप्त नहीं कर पाते । मेरे जैसे लोगों द्वारा जिनका संशय नष्ट हो गया है वे शुद्ध निश्चय से हृदय की ग्रन्थियों को खोल कर उस गति को प्राप्त कर लेते हैं । आप को ज्ञान उत्पन्न हो गया है, स्थिर बुद्धिवाले हैं, लोलुपता रहित हैं, निश्चय न होने के कारण ही उस परमतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते ।

यहाँ प्रथम भाग में कथित प्रमाणों से तो यह सिद्ध होता है कि ज्ञान हो जाने पर सन्देह ही नहीं किन्तु उसके मूल अज्ञान का भी विनाश हो जाता है । यही ठीक भी है, क्योंकि लोक में जिस विषय का ज्ञान हो जाता है, उस विषय का अज्ञान तथा सन्देह नष्ट हो जाता है । सन्त तुलसीदास जी भी कहते हैं—

भयऊ प्रकाश कतहुँ तम नाहीं । ज्ञान उदयँ जिमि संसय जाहीं ॥
६।४६।४

किन्तु द्वितीय भाग में ज्ञान उत्पन्न होने पर भी संशय रहने की जो बात कही है, उससे परस्पर विरोध होता है। क्या ज्ञान होने पर भी सन्देह रह सकता है ?

समाधान—ज्ञान हो जाने पर अज्ञान और उसके कार्य सन्देह, भ्रम आदि का विनाश हो जाता है, यही सर्वमान्य सत्य सिद्धान्त है। तथापि कभी-कभी कुछ प्रबल प्रतिबन्धकों के कारण ज्ञान हो जाने पर भी सन्देह होता है। उस अपवाद रूप स्थल की चर्चा ही शान्तिपर्व तथा नारदपुराण के पूर्वार्ध में कथित श्लोकों में की है। कुछ प्रतिबन्धकों की भी चर्चा इन्हीं श्लोकों में की है।

बाल्याद्—बाल्यावस्था होने से शुकदेवजी को सन्देह होता है। इसका कारण यह है कि साधारण लोकव्यवहार में यह माना जाता है कि बाल्यावस्था में तो लौकिक तत्त्वों का भी सम्यक् ज्ञान नहीं होता, अतः अलौकिक परमतत्त्व के ज्ञान की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। ऐसी दशा में यह भय होता है कि—

भयाद्—ऐसा न हो कि कहीं ज्ञान न होने पर हम अपने को ज्ञानी मान लें।

अविमोक्षजाद्—इससे हम मोक्ष से वञ्चित रह जायेंगे। अथवा शरीर-इन्द्रियों से सर्वथा सम्बन्ध न छूटने से ज्ञान होने से सन्देह होता है। क्योंकि साधारण लोग यह मानते हैं कि ज्ञान हो जाने पर शरीर से सर्वथा सम्बन्ध छूट जाता है। परन्तु शास्त्र-प्रमाणानुसार तो ज्ञान हो जाने पर देहात्मभाव का ही नाश होता है, देह से कुछ सम्बन्ध तो जब तक प्रारब्ध शेष है तब तक रहता ही है। देह तथा वाणी आदि से सर्वथा सम्बन्ध छूट जाये तो 'वे ज्ञानी तुम्हें ज्ञान

का उपदेश करेंगे' गीता ४।३४ में जो कहा है, वह सम्भव ही न होगा। क्योंकि शरीर, वाणी आदि के साथ सम्बन्ध के बिना उपदेश सम्भव ही नहीं। यही कारण है कि जिन अन्य शरीर आदि से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, उनके माध्यम से ज्ञानी भी उपदेश नहीं दे पाता।

ऊपर के श्लोकों में कथित इन प्रतिबन्धकों के अतिरिक्त शास्त्र के तात्पर्य को ठीक न जानने के कारण निम्नलिखित प्रतिबन्धकों के कारण भी सन्देह रह सकता है। देखिए—

'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या
विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्'
(बृह० उप० २।४।५)

अर्थ—आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से सब विदित हो जाता है। जो लोग इस श्रुति के शब्दार्थ को ज्यों का त्यों मान लेते हैं, उन्हें विशेष रूप से संसार के सभी पदार्थ विदित न होने के कारण ज्ञान होने पर भी सन्देह होता है। वस्तुतः इस श्रुति का तात्पर्य विशेष रूप में सबका ज्ञान होने में है ही नहीं, किन्तु उपादान रूप से सामान्य ज्ञान में ही तात्पर्य है।

'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७।१९) अर्थात् 'यह सब वासुदेव (परमात्मा) है' इस स्मृति का जो लोग ज्यों का त्यों अर्थ मान लेते हैं, उन्हें आँखों से भूमि, जल आदि ही दीखने के कारण, ज्ञान होने पर भी सन्देह होता है। वस्तुतः इस गीता वचन का तात्पर्य परमात्मा से सब उत्पन्न होने के कारण सबको परमात्मा कहने में है। सीधे-सीधे सबको परमात्मा बताने में नहीं है। परमात्मा चेतन, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है और सब जड़, विनाशी, परिवर्तन-शील हैं, अतः सर्वथा विरुद्ध लक्षण होने के कारण सीधे सब कुछ परमात्मा हो ही नहीं सकता।

इसी प्रकार 'ज्ञानी को सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं', 'उसके कुल में कोई अज्ञानी नहीं होता' इत्यादि वचन ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्ति कराने के लिए कहे गये अर्थवादात्मक वाक्य हैं। उनका तात्पर्य न समझ कर जो उनके वाच्यार्थों को ही ज्यों का त्यों मान लेते हैं, उन्हें वैसा अनुभव न होने के कारण ज्ञान हो जाने पर भी सन्देह होता है।

शङ्का—जैसे ज्ञान होने पर भी सन्देह हो सकता है, वैसे ही ज्ञान न होने पर भी सन्देह का अभाव हो सकता है क्या ?

समाधान—हाँ हो सकता है। इसका कारण भी शास्त्र के वचनों का ठीक तात्पर्य न समझना ही है। देखिये—'परं ज्योति-रूपसम्पद्य' (छा० ८।१२।३) अर्थात् 'परम ज्योति रूप को प्राप्त कर' इस श्रुति वचन को किसी के मुख से सुन कर जिन्हें कभी बाहर या भीतर किसी ज्योति का दर्शन हो जाता है, वे ऐसा मान लेते हैं कि मुझे ज्ञान हो गया। उसमें उन्हें १०-२०-५० वर्ष या जब तक किसी महापुरुष से शास्त्रवचन का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक सन्देह होता ही नहीं। ऐसा मुझे स्वयं एक महात्मा ने बताया भी है। इसी प्रकार—

'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम'

(गीता १३।२)

अर्थ—क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरे मत में ज्ञान है। इस गीतावचन को प्रमाण मान कर 'क्षेत्र शरीरादि सब दृश्य हैं, मैं इनको जानने वाला द्रष्टा हूँ' इस सामान्य बौद्धिक परोक्ष विवेक ज्ञान को तत्त्व का साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान मान कर वर्तमान में न जाने कितने ज्ञानी सन्देहरहित होकर ज्ञान बखान करते विचर रहे हैं। यद्यपि उनमें सिद्ध ज्ञानी तथा भक्त योगी के लक्षणों के मिलने की बात तो दूर रही, साधन चतुष्टय के शम-दम आदि लक्षण

भी नहीं मिलते। इतना ही नहीं किन्तु काम क्रोध आदि विकार के भण्डार बने रहते हैं, तो भी उन्हें कभी सन्देह नहीं होता। इसका हेतु यह है कि अपनी असमर्थता के कारण उन्होंने ऐसा निश्चय कर लिया है कि काम, क्रोधादि का होना अन्तःकरण का धर्म ही है और ज्ञानी में इनके अभाव का कथन आत्मदृष्टि से किया गया है। ऐसी धारणा के कारण मनमाना आचरण करते हैं। ऐसे महाज्ञानियों को लक्ष्य करके ही कहा गया है—

ब्रह्मज्ञान उपज्यो नहीं कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आतमा सहज नरक में जाय॥

ऐसे महा-अज्ञानियों को या अर्धज्ञानियों को जो गुरु 'यह सब ब्रह्म है' ऐसा उपदेश करता है, वह गुरु शिष्य को महान् नरकजाल में डालता है ऐसा अति स्पष्ट शब्दों में योगवासिष्ठ तथा महोपनिषद् में कहा है—

अर्धप्रबुद्धस्याज्ञस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु शिष्यं स गुरुः पातयेत्*॥

(योगवासिष्ठ स्थितिप्रकरण ३९।२४), (महोप० ५।१०५)

ज्ञान दुःख नाशक है या नहीं

शङ्का–(१) यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

(गीता ६।२२)

(२) न तु मन्ये विघाताय ज्ञानं दुःखस्य सञ्जय।
भवत्यतिबलं ह्येतज्ज्ञानस्याप्युपघातकम्॥

(उद्योगपर्व ५१।५३)

* महानिरयजालेषु समेन विनियोजितः। न इतियोगवातिर पाठः

अर्थ—(१) जिसमें स्थित हुआ बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता। (२) हे सञ्जय ! ज्ञान दुःख का घातक होता है, ऐसा मैं नहीं मानता। यह दुःख ही अति बलवान् है और ज्ञान का भी घातक है।

यहाँ गीता के वचन से उद्योगपर्व के वचन का विरोध अति स्पष्ट है। उसका समाधान करते हुए स्पष्ट रूप से यह बतायें कि ज्ञान से दुःख का नाश होता है या नहीं।

समाधान—उक्त गीता वचन में 'यस्मिन् स्थितो' अर्थात् 'जिसमें स्थित हुआ' ऐसा कह कर ही आपकी शंका का समाधान कर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान में स्थित होने पर ही दुःख से विचलन नहीं होता। इससे अर्थतः यह सिद्ध होता है कि स्थिति (निष्ठा) रहित ज्ञान दुःख का नाशक नहीं होता। इसी का वर्णन उद्योगपर्व के उक्त श्लोक में किया गया है। अतः दोनों वचनों में विरोध है ही नहीं।

इसे अति स्पष्ट रूप से समझने के लिए पहले सुख-दुःख के स्वरूप को समझें। देखिये—अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में जितनी अधिक तन्मयता होगी, उतना ही अधिक सुख-दुःख होगा। यही कारण है कि अपनी या अपने सम्बन्धियों की या असम्बन्धी मनुष्य, पशु-पक्षियों की, इतना ही नहीं किन्तु कल्पित कहानी या सिनेमा के पात्रों की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में भी जब मन तन्मय हो जाता है, तब सुख-दुःख हो जाता है। यह ज्ञान रहते हुए कि यह कल्पित पात्र है, मनुष्य तन्मय हो जाने के कारण ही हँसने-रोने लग जाता है। यदि तन्मयता नहीं होती तो साक्षात् अपनी अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में भी सुख-दुःख नहीं होता। अतः जिससे प्रतिकूलता में तन्मयता न हो वही दुःख का नाशक होगा। ज्ञान मात्र नहीं, किन्तु ज्ञान की

जागरूक प्रबल स्थिति हो तन्मयता की बाधक होती है। अतः ज्ञान में स्थिति (ज्ञाननिष्ठा) होने पर ही बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता ऐसा गीता ६।२२ का कहना ठीक ही है। ज्ञानमात्र दुःख का नाशक न होने से उद्योगपर्व ५१।५३ का कथन भी ठीक ही है, दोनों में कुछ भी विरोध नहीं है।

तन-मन के रोग का योग

शङ्का—जो तन (शरीर) के रोग से मुक्त हैं, वे भोगी भी काम, क्रोधादि मन के रोगों से युक्त होते हैं एवं जो काम, क्रोधादि मन के रोगों से मुक्त हैं, वे योगी भी तन के रोगों से युक्त देखे जाते हैं। किन्तु महाभारत में यह कहा है कि 'दो प्रकार की अर्थात् शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ होती हैं। यह एक दूसरे से जन्म लेती हैं, निर्द्वन्द्व नहीं होतीं। शरीर से मानसिक व्याधि उत्पन्न होती है और मन से शारीरिक व्याधि उत्पन्न होती है, यह निश्चय है, इसमें संशय नहीं है।

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते॥

(शान्तिपर्व १६।८) (आश्वमेधिकपर्व १२।१)

शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नाऽत्र संशयः।
मानसाज्जायते वापि शारीर इति निश्चयः॥

(शान्तिपर्व १६।९)

इस प्रकार प्रत्यक्ष लोक-अनुभव तथा महाभारत के कथन में विरोध होने से शङ्का होती है कि क्या महाभारत वचनों का तात्पर्य कुछ और ही है?

समाधान—शारीरिक ज्वरादि रोगों से युक्त व्यक्ति को मानसिक क्रोधादि रोग उत्पन्न होंगे, ऐसा तात्पर्य महाभारत के वचनों का नहीं है। यहाँ तात्पर्य यह है कि जो शारीरिक ज्वरादि रोगों से पीड़ित है, उसे मानसिक खिन्नता रूप व्याधि अवश्य होगी, अर्थात् उसका मन ज्वरादि रोग रहित अवस्था में जैसा प्रसन्न रहता है वैसा प्रसन्न नहीं रहेगा। एवं मानसिक चिन्ता, शोक, भयादि रोगों से पीड़ित व्यक्ति को शारीरिक रोग अवश्य होगा। इसका भी तात्पर्य यह है कि चिन्ता आदि मानसिक रोग रहित अवस्था में जैसी शारीरिक प्रसन्नता, कार्यक्षमता रहती है, वैसी चिन्ता आदि युक्त अवस्था में नहीं रहती। अतः अनुभव से जरा भी विरोध नहीं है।

इसमें भी ज्वरादि शारीरिक रोगों के वेग, एक-दो-तीन दोषों की न्यूनता-अधिकता, अस्थिभङ्ग आदि के कारण कष्ट की न्यूनता-अधिकता एवं मानसिक रोग चिन्ता आदि की न्यूनता-अधिकता तथा व्यक्ति के सहनशीलता-असहनशीलता आदि कारणों के तारतम्य से तन-मन की प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता में तारतम्य होता है। यही कारण है एक-सी अवस्था में दो व्यक्तियों की एक सी दशा नहीं होती।

क्या गुरु ही ईश्वर है ?

शङ्का—(१) गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

(२) यस्य साक्षात् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥
(भाग० ७।१५।२६)

अर्थ—(१) गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु महेश्वर है, गुरुसाक्षात् परब्रह्म हैं, ऐसे गुरु को नमस्कार है।

(२) ज्ञानदीप प्रदान करनेवाले साक्षात् भगवान् में 'यह मनुष्य है' जिसकी ऐसी असत् बुद्धि है, उसका सम्पूर्ण श्रवण हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ है।

इन शास्त्र वचनों में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा परम ब्रह्म कहा है, उन्हें मनुष्य मानने वाले की निन्दा की है। परन्तु मुझे यहाँ यह शंका होती है कि गुरु तो भगवान् या ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जाता है, अतः गुरु ही भगवान् या ब्रह्म कैसे हो सकता है? आज तक मुझे ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिला, जिसमें गुरु ही ईश्वर या ब्रह्म है, ऐसी सुदृढ़ भावना भी बनी हो। क्योंकि गुरु प्राप्त करके भी भगवान् या ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की लालसा उनमें भी देखने में आती है। अतः इन श्लोकों का क्या तात्पर्य है? बताने की कृपा करें।

समाधान—किसी भी मतानुसार अज्ञ ही नहीं, किन्तु तज्ञ गुरु भी ईश्वर या ब्रह्म नहीं होता। देखिये—'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्रह्मसूत्र ४।४।१७) में भेदवादी आचार्यों ने ही नहीं, किन्तु अभेद-वादी आचार्यों ने भी तज्ञ (मुक्त) में भी जगद् रचना आदि का सामार्थ्य नहीं माना, अतः वह ईश्वर रूप हो ही नहीं सकता। तज्ञ गुरु भी जिस शरीर-वाणी आदि से युक्त होकर उपदेश करता है, उस रूप से ब्रह्मरूपता तो शङ्करमत में भी मान्य नहीं। जिस कूटस्थ रूप से ब्रह्मरूपता मान्य है, उस कूटस्थ रूप से उपदेश करता ही नहीं। ऐसी दशामें ऊपर लिखे शास्त्रवचनों का तात्पर्य गुरु में अतिशय श्रद्धा कराने में ही है। अथवा गुरु के माध्यम से ईश्वर हो ज्ञान प्रदान करता है, यह रहस्य समझाने में है।

माता-पिता तथा गुरु दण्डनीय हैं या नहीं

शङ्का—मनुस्मृति में माता-पिता तथा गुरु भी यदि स्वधर्म में स्थित न हों तो राजा उन्हें भी दण्ड दे, ऐसा स्पष्ट कहा है। किन्तु मिताक्षरा टीका में इन्हें दण्ड न दे, ऐसा कहा है। इन परस्पर विरुद्ध वचनों का क्या समाधान है? देखिये—

(१) पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥

(मनु० ८।३३५)

(२) अदण्ड्यौ माता-पितरौ

स्नातकपरिव्राजकपुरोहितवानप्रस्थाः,
श्रुतशीलशौचाचारवन्तस्ते हि धर्माधिकारिणः।

(मिताक्षरा १।३५८)

अर्थ—(१) पिता, आचार्य (गुरु), सुहृद्, माता, भार्या, पुत्र तथा पुरोहित भी यदि स्वधर्म में स्थित न हों तो ये भी राजा के लिए अदण्डनीय नहीं हैं अर्थात् इन्हें भी दण्ड दे।

(२) माता-पिता, स्नातक, संन्यासी, पुरोहित तथा वानप्रस्थ ये अदण्डनीय हैं, अर्थात् राजा इन्हें दण्ड न दे। क्योंकि ये श्रुत, शील, शौच और आचार से युक्त धर्माधिकारी हैं।

महाभारत में भी कहा है कि 'विषयों में आसक्त, कार्य-अकार्य को न समझनेवाले उन्मार्गगामी गुरु के लिये भी दण्ड का सदा विधान है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः॥

(शान्तिपर्व ५७।७, १४०।४८), (आदिपर्व १३९।५४), (उद्योगपर्व १७८।४८), (वाल्मीकि० रा० २।२१।१३)

समाधान—माता पिता-गुरु आदि पूजनीयों से यदि कोई अल्प अपराध हो जाये तो राजा उन्हें दण्ड न दे, इस अभिप्राय से मिताक्षरा में उन्हें अदण्डनीय कहा है। किन्तु यदि ये भी उन्मार्गगामी होकर महान् अपराध करें तो राजा इन्हें भी अवश्य दण्ड दे। नहीं तो समाज में अव्यवस्था हो जायेगी, राजा को पक्षपाती मानकर जनता की अनास्था हो जायेगी। इस अभिप्राय से मनुस्मृति में माता-पिता, गुरु आदि को दण्ड देने के लिए कहा है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि राजा के लिए ही माता-पिता, गुरु आदि पूजनीयों को दण्ड देने का अधिकार या विधान है। क्योंकि उसपर सारे समाज की सुव्यवस्था का भार रहता है। दूसरे लोगों को तो पूजनीय माता-पिता, गुरु आदि से अपराध होने पर उनसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना ही करनी चाहिए, दण्ड देने का तो नाम नहीं लेना चाहिए। उनमें भी परमगुरुरूपा माता से व्यभिचार जैसा घृणित अपराध होने पर भी उसे दण्ड देने की बात तो दूर रही, उसका त्याग भी नहीं करना चाहिए—

पतिता गुरवः त्याज्या न तु माता कथञ्चन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

(यमस्मृति १९), (मत्स्यपुराण २२६।१४८)

अर्थ—पतित गुरुओं का तो त्याग किया जा सकता है, किन्तु पतित माता का त्याग किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिए। गर्भ में धारण पोषण करने के कारण माता श्रेष्ठा (पूजनीया) होती है।

आततायी वध योग्य है या नहीं

शङ्का–(१) अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ।।
(वसिष्ठ स्मृ० ३।१९)

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।।
(मनु० ८।३५०)

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ।।
(मनु० ८।३५१)

अर्थ—(१) अग्नि लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारनेवाला, धनहरण करनेवाला, क्षेत्रहरण करनेवाला, तथा स्त्री-हरण करनेवाला, ये छः आततायी कहे जाते हैं। गुरु, बालक, वृद्धबहुश्रुत ब्राह्मण, ये भी आततायी बनकर मारने के लिए तथा यदि आते हों, तो बिना कुछ विचार किये इन्हें भी मार डाले। एकान्त में या समूह में आततायी को मार डालने पर मारनेवाले को कुछ भी दोष नहीं होता। क्योंकि आततायि का क्रोध्र ही सामने-वाले का क्रोध बढ़ाता है।

(२) नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणवधात् ।।
(सुमन्तु)

आचार्यं च प्रवक्तारं मातरं पितरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः।।
(मनु० ४।१६२)

अर्थ—गाय, ब्राह्मण को छोड़कर अन्य आततायी के वध में दोष नहीं है। आचार्य वेदप्रवक्ता, माता, पिता, गुरु, ब्राह्मण तथा गाय और सभी तपस्वियों को हत्या न करे।

प्रथम भाग में आततायी माता, पिता, गुरु, ब्राह्मण आदि की भी हत्या करने को कहा है। किन्तु द्वितीय भाग में माता-पिता तथा ब्राह्मणादि को आततायी होने पर भी न मारने को कहा है। इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—पलायन आदि के द्वारा किसी प्रकार भी अपनी रक्षा निर्दोष व्यक्ति न कर सके तो आत्मरक्षा के लिए आततायी माता-पिता आदि की हत्या का अनुमोदन प्रथम भाग में किया है। राजा ऐसे व्यक्ति को दण्ड न दे, इस दृष्टि से ही दोष का अभाव कहा है। वस्तुतः आत्मरक्षा का विधान अर्थशास्त्र है और ब्राह्मण, माता-पिता का न मारना धर्मशास्त्र है। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में विरोध होने पर अर्थशास्त्र को छोड़ कर धर्मशास्त्र के अनुसार आचरण करना चाहिए, ऐसा नारदस्मृति में कहा है—

यत्र विप्रपत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः ।
अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् ।।
(नारद स्मृति)

इसलिए आततायी माता-पिता, गुरु को भी आत्मरक्षा के लिए भी नहीं ही मारना चाहिए। यदि आत्मरक्षा के लिए भी मारता है, तो उसे सर्वथा दोषरहित नहीं कहा जायेगा। हाँ यह अवश्य है, उसे दोष अल्प ही लगेगा। इसी अल्प दोष को दोष का अभाव प्रथम भाग में कहा है।

असत्य भाषण सत्य से श्रेष्ठ कहाँ ?

शङ्का—शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद् वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ।।

(मनुः ८।१०४)

अर्थ—शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण का वध जहाँ सत्य बोलने से होता हो वहाँ असत्य बोलना चाहिए। ऐसा असत्य भाषण सत्य से भी श्रेष्ठ होता है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि शूद्र आदि अपराधियों को वध से बचाने के लिए किया गया असत्य भाषण यदि सत्य से भी श्रेष्ठ होता हो तो चोर, डाकू, हत्यारे आदि दुष्टों को भी लोग असत्य भाषण द्वारा वध से बचा कर पुण्य कमाने की चेष्टा करेंगे। इससे तो जनता को महान् कष्ट होगा तथा सारी राजव्यवस्था ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। अनेकों निर्दोष मानवों का वध करनेवाले मानवशरीरधारी दानव को वध से बचाने के लिए किये गये असत्यभाषण को सत्य से श्रेष्ठ किस दृष्टि से कहा है ? सो स्पष्ट कीजिए।

समाधान—इस श्लोक की मन्वर्थमुक्तावली टीका में कहा है कि 'यह कथन **प्रमाद** के कारण हुये अधर्म के विषय में है, जो अत्यन्त अधर्मी चोर आदि हैं, उनके लिए नहीं। इसका समर्थन करने के लिए गौतम स्मृति का वचन भी दिया है, 'जिस (पुण्यात्मा) का जीवन उसके अधीन हो, वहाँ ही असत्य भाषण से दोष नहीं होता, **पापी के जीवन के लिए यह नहीं कहा गया।** वीरमित्रोदय के व्यवहार-प्रकाश में भी कहा है कि 'जहाँ अपराध की **आशङ्का** मात्र है, अथवा **प्रमाद** से अपराध हो गया है, वहाँ के लिए ही मनु ने कहा है। देखिये—

एतच्च प्रमादस्खलिताधर्मविषयत्वे, न त्वत्यन्ताधार्मिकसन्धिकारस्तेनादिविषये । तथा गोतमः 'नानृतवदने दोषो यज्जीवनं चेत्तदधीनं, न तु पापीयसो जीवनम्'

(मन्वर्थ० टीका ८।१०४)

यत्र शङ्काभियोगः प्रमादस्खलिताभियोगो वा

(वीरमित्रोदय व्य०)

इसे एक उदाहरण से समझें। देखिये—मार्ग में एक व्यक्ति का सिर कटा हुआ पड़ा है। पुलिस हत्यारे की खोज कर रही है। लोगों से पूछ रही है कि यहाँ से निकलते हुये किसी व्यक्ति को तुमने देखा है ? यह तलवार किसकी है तुम जानते हो ? ऐसे स्थल में किसी व्यक्ति को वहाँ से निकलते जिसने देखा हो, उसे भी नहीं बताना चाहिए, मौन ही रहना चाहिए। यदि मौन रहने से काम न बने, पुलिस परेशान करे तो स्पष्ट असत्य बोल देना चाहिए। क्योंकि उस व्यक्ति को केवल वहाँ से निकलते देखा है, मारते, काटते नहीं देखा। अतः हो सकता है कि किसी दूसरे ने मारा, काटा हो यह व्यक्ति किसी कार्यवश वहाँ से निकला हो। ऐसे आशंका के स्थल में यदि उस व्यक्ति का नाम बता दिया जायेगा तो निरपराध होने पर भी राजा उसका वध करा देगा। ऐसी दशा में यदि यहाँ असत्य-भाषण किया जायेगा तो उससे किसी की हानि या प्रजा को कष्ट या राजव्यवस्था नष्ट होने का भय ही नहीं, किन्तु एक निर्दोष व्यक्ति के जीवन की रक्षा अवश्य हो जायेगी। इसलिए ऐसे स्थल में ही असत्य भाषण को सत्य से श्रेष्ठ मनुजी ने कहा है, वह सर्वथा ही ठीक है।

कुकर्म द्वारा भी माता-पिता पालनीय

शङ्का—शास्त्रों में सर्वत्र कुकर्म करने की महती निन्दा की गयी है, कुकर्मी की परलोक में महादुर्गति का वर्णन किया गया है। किन्तु नीचे लिखे शास्त्रवचन में कहा है कि—'वृद्ध माता-पिता, साध्वी भार्या, शिशु पुत्र इन सब का पालन सैकड़ों अकार्य (कुकर्म) करके भी करना चाहिए, ऐसा मनुजी ने कहा है। ऐसा कहने में क्या तात्पर्य है ?

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः ।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ।।

समाधान—यहाँ यह तात्पर्य है कि वृद्ध माता-पिता आदि का पालन करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। कुकर्म करके करना चाहिए, इसमें शास्त्र का तात्पर्य जरा भी नहीं। जैसे लोक में किसी अति प्रसिद्ध धर्मात्मा ने किसी से कहा कि हम एक घंटे बाद आप को एक लाख रुपया दे देंगे। इसपर उसने कहा अभी तो आप कह कह रहे थे कि मेरे पास इस समय एक हजार रुपया भी नहीं है, ऐसी दशा में आप एक ही घंटे बाद एक लाख रुपया कहाँ से दे देंगे। इसपर उस धर्मात्मा ने कहा कि चाहे हम डाका डाल कर दें, परन्तु अवश्य दे देंगे। जिस प्रसिद्ध धर्मात्मा ने कभी एक रुपये की चोरी भी न की हो, वह डाका डालेगा, ऐसा कैसे हो सकता है। अतः लोक में उसके वचनों का तात्पर्य 'अवश्य दे दूँगा' इसी में माना जाता है, न कि डाका डालने में। इसी प्रकार जब सर्वत्र शास्त्र एक भी कुकर्म करने की आज्ञा नहीं देता तो सैकड़ों की आज्ञा कैसे दे सकता है। अतः वृद्ध मातापिता आदि का अवश्य पालन करना चाहिए इस बात के विधान में उक्त वचन का तात्पर्य है, कुकर्म कराने में नहीं।

जो अपने को प्रिय हो सो धर्म

शङ्का—वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ।।
(मनु० २।१२)

अर्थ—वेद, स्मृति, सदाचार तथा जो अपने को प्रिय हो, ये चार धर्म के लक्षण हैं। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'जो अपने को प्रिय हो' इसे भी यदि धर्म का लक्षण माना जायेगा, तब तो जिन्हें हिंसा, व्यभिचार, डाका आदि कुकर्म प्रिय हैं, वे भी धर्म हो जायेंगे। अतः इसका क्या तात्पर्य है ? सो बतायें।

समाधान—जो वेद विहित हैं, स्मृति प्रतिपादित हैं तथा सत्पुरुषों से आचरित हैं, ऐसे अनेकों कर्मों में से मनुष्य को जो प्रिय हो वह कर्म उसके लिए धर्म है, ऐसा अर्थ उक्त मनुवचन का है। अतः हिंसा आदि धर्म नहीं हो सकते। अथवा जहाँ दो कर्मों का शास्त्र ने विकल्प के रूप में प्रतिपादन किया हो, वहाँ जो विकल्प अपने को प्रिय हो उसे धर्म का लक्षण कहा है। ऐसा समाधान गर्गस्मृति में बताया है **'वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्'** जैसे स्मार्त या वैष्णवी एकादशी में से जो अपने को प्रिय हो उसमें व्रत करना धर्म है।

हिंसा आदि कुकर्म प्रिय होने से धर्म न हो जायँ, इसीलिए स्मृति-प्रतिपादित होना आवश्यक बताया। वेदविरुद्ध स्मृतिप्रतिपादित धर्म न हो जाय, इसके लिए वेदविहित भी कहा।

कन्या-दान ऋतुधर्म से प्रथम या बाद में

शङ्का—(१) माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ।।
(पाराशर स्मृ० ७।६)

(२) काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥

(मनु० ९।८९)

अर्थ—(१) माता, पिता तथा ज्येष्ठ भ्राता ये तीनों रजस्वला कन्या का दान करके नरक में जाते हैं। (२) ऋतुमती (रजस्वला) कन्या भले ही मरण पर्यन्त घर में बैठी रहे, परन्तु गुणहीन पुरुष को कभी न दे।

यहाँ दोनों वचनों में विरोधाभास है, उसका क्या समाधान है?

समाधान—कन्यादान ऋतुधर्म होने से पहले ही करना चाहिए, क्योंकि मासिक-धर्म से युक्त होने से पहले ही कन्या कही जाती है। अतः मनु महाराज के वचन का तात्पर्य गुणयुक्त वर की प्रशंसा तथा उसके अन्वेषण में ही है, ऋतुमती कन्या को घर में रखने में नहीं।

क्या लोकविरोधी धर्म त्याज्य है?

शङ्का—परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥

(मनु० ४।१७६)

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु ।

(याज्ञ० १।१५६)

अर्थ— धर्मरहित अर्थ और काम का त्याग कर दे। परिणाम में सुख न देनेवाले तथा लोकविरोधी धर्म का त्याग कर दे। स्वर्ग न देनेवाले लोकविरोधी धर्म का भी आचरण न करे।

यहाँ शङ्का होती है कि शीतकाल में गङ्गा-स्नान करने से परिणाम में सुख नहीं, किन्तु कष्ट ही होता है। तो क्या माघ में गङ्गा स्नान नहीं करना चाहिए? वर्तमान में जाति-पाँति मानना, छुआ-छूत मानना, प्याज-लहसुन, अण्डा आदि न खाना लोकविरुद्ध माना जाता है, तो क्या इनका त्याग कर देना चाहिए?

समाधान—'असुखोदर्क' अर्थात् परिणाम में सुख न देनेवाले धर्म के त्याग से तात्पर्य यहाँ 'परिवार के होते सर्वस्व दान करना, 'युवक अतिथि की एकान्त सेवा में युवती पत्नी, पुत्री आदि को नियुक्त करना' आदि शास्त्र में ही अन्यत्र निषिद्ध कर्मों के त्याग में ही है, माघ में गंगास्नान त्याग में नहीं। क्योंकि दक्षस्मृति ३।१८ में 'अन्वये सति सर्वस्वदानम्' अर्थात् परिवार के होते हुये सब कुछ दान करने को मना किया है। क्योंकि इससे अवश्य पालनीय वृद्धमाता-पिता, साध्वी पत्नी, छोटे बच्चे संकट में पड़ जायेंगे। इसी प्रकार अज्ञात कुलशीलवाले युवक व्यक्ति की सेवा में युवती पत्नी, पुत्री को नियुक्त करने में शीलभंग की आशंका होने से शास्त्र 'अज्ञात-कुलशीलस्य वासो देयो न कर्हिचित्' कहकर मना करता है। 'लोक-विक्रुष्ट' का अर्थ यहाँ लोक अर्थात् युग विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि दूसरे सतयुग आदि में विहित असवर्ण विवाह आदि कर्म कलियुग में निषिद्ध होने से नहीं करने चाहिए। लोक शब्द का युग अर्थ करने में कारण यह है कि जो धर्म हो वह अस्वर्ग्य हो ऐसा सम्भव नहीं (देखिये वीरमित्रोदय व्यवहारप्रकाश–पृष्ठ ४४२) अतः जाति-पाँति मानना आदि शास्त्रविहित कर्म वर्तमान में लोकविरुद्ध होने से उनके त्याग की बात यहाँ नहीं कही गई।

स्त्री-शुद्धि

शङ्का—याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि व्यभिचार से अशुद्ध स्त्री मासिकधर्म होने पर शुद्ध हो जाती है—

व्यभिचाराद् ऋतौ शुद्धिः ।

(याज्ञ० १।७२)

किन्तु मनुस्मृति में कृच्छ्र तथा चान्द्रायण व्रत करनेपर पवित्र होना बताया है—

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ।

(मनु० ११।१७७)

इन परस्पर विरुद्ध वचनों का सम्यक् समाधान बताने की कृपा करें ।

समाधान—कुछ विद्वानों का कहना है कि 'रजसा स्त्री मनो दुष्टा' (मनु० ५।१०८) अर्थात् 'मासिक धर्म से, मानसिक व्यभिचार से अशुद्ध स्त्री शुद्ध हो जाती है, ऐसा मनुजी ने स्पष्ट कहा है। अतः याज्ञवल्क्य के वचन का भी यही तात्पर्य है कि मासिकधर्म से, मानसिक व्यभिचार से अशुद्ध स्त्री शुद्ध हो जाती है ।

अन्य विद्वानों का कहना है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा है कि दोषों की खान कलियुग में यह एक महान् गुण भी है कि मानस पुण्य ही होते हैं, मानस पाप नहीं होते—

कलौ दोषनिधौ तात गुण एको महानपि ।
मानसं हि भवेत् पुण्यं सुकृतं नहि दुष्कृतम् ।।

(ब्रह्मवैवर्त पुराण)

कलि कर एक पुनीत प्रतापा ।
मानस पुण्य होहिं नहि पापा ।।

अतः कलियुग में मानसिक व्यभिचार से जब स्त्री अशुद्ध होती ही नहीं, तब मनुजी का मासिक धर्म से उसकी शुद्धि बताना सत-

युगादि के लिए ही समझना चाहिए । याज्ञवल्क्य के वचन का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि बलात्कार आदि द्वारा अशुद्ध स्त्री मासिक धर्म से ही शुद्ध हो जाती है । क्योंकि उसके मन में पाप का प्रवेश ही नहीं हुआ । तन की अशुद्धि मासिक धर्म से हो जाती है, ऐसा धर्मशास्त्रों में कहा ही है—

'मासि मासि रजस्तासां दुष्कृतानि-अपकर्षति'

कहीं-कहीं बलात्कार से अशुद्ध स्त्री की शुद्धि का जो सामान्य प्रायश्चित्त बताया है, उसका भी तात्पर्य तन की पूर्ण शुद्धि में ही है । क्योंकि बलात्कार द्वारा मुख में प्रविष्ट कराई गई विष्ठा या मूत्र से अशुद्ध मुख की शुद्धि जैसे करनी ही पड़ती है । वैसे ही बलात्कार द्वारा प्रविष्ट परपुरुष के वीर्य से अशुद्ध योनि की शुद्धि भी करनी ही चाहिए ।

बलात्कार से भोगी हुई, चोर के हाथ पड़ी हुई, स्वयं धोखे में पड़ी हुई या धोखे में डाली गई स्त्री अन्य से दूषित होने पर भी त्याग के योग्य नहीं होती । सभी के लिए प्रायश्चित्त कहे गये हैं, नारी के लिए तो विशेष रूप से कहे गये हैं—

बलात्कारोपभुक्ता वा चौरहस्तगतापि वा ।
स्वयं विप्रतिपन्ना वा अथवा विप्रमादिता ।।

(अत्रि० १९४)

अन्यतो दूषिताऽपि स्त्री न परित्यागमर्हति ।
सर्वेषां निष्कृतिः प्रोक्ता नारीणां तु विशेषतः ।।

अतः स्वेच्छा से भ्रष्ट स्त्री भी प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाती है । इस पक्ष में याज्ञवल्क्य के वचन का तात्पर्य यह है कि स्वेच्छा से

व्यभिचाराद् ऋतौ शुद्धिः ।

(याज्ञ० १।७२)

किन्तु मनुस्मृति में कृच्छ्र तथा चान्द्रायण व्रत करनेपर पवित्र होना बताया है—

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ।

(मनु० ११।१७७)

इन परस्पर विरुद्ध वचनों का सम्यक् समाधान बताने की कृपा करें ।

समाधान—कुछ विद्वानों का कहना है कि 'रजसा स्त्री मनो दुष्टा' (मनु० ५।१०८) अर्थात् 'मासिक धर्म से, मानसिक व्यभिचार से अशुद्ध स्त्री शुद्ध हो जाती है, ऐसा मनुजी ने स्पष्ट कहा है। अतः याज्ञवल्क्य के वचन का भी यही तात्पर्य है कि मासिकधर्म से, मानसिक व्यभिचार से अशुद्ध स्त्री शुद्ध हो जाती है ।

अन्य विद्वानों का कहना है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा है कि दोषों की खान कलियुग में यह एक महान् गुण भी है कि मानस पुण्य ही होते हैं, मानस पाप नहीं होते—

कलौ दोषनिधौ तात गुण एको महानपि ।
मानसं हि भवेत् पुण्यं सुकृतं नहि दुष्कृतम् ।।

(ब्रह्मवैवर्त पुराण)

कलि कर एक पुनीत प्रतापा ।
मानस पुण्य होंहि नहि पापा ।।

अतः कलियुग में मानसिक व्यभिचार से जब स्त्री अशुद्ध होती ही नहीं, तब मनुजी का मासिक धर्म से उसकी शुद्धि बताना सत-

युगादि के लिए ही समझना चाहिए । याज्ञवल्क्य के वचन का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि बलात्कार आदि द्वारा अशुद्ध स्त्री मासिक धर्म से ही शुद्ध हो जाती है । क्योंकि उसके मन में पाप का प्रवेश ही नहीं हुआ । तन की अशुद्धि मासिक धर्म से हो जाती है, ऐसा धर्मशास्त्रों में कहा ही है—

'मासि मासि रजस्तासां दुष्कृतानि-अपकर्षति'

कहीं-कहीं बलात्कार से अशुद्ध स्त्री की शुद्धि का जो सामान्य प्रायश्चित्त बताया है, उसका भी तात्पर्य तन की पूर्ण शुद्धि में ही है । क्योंकि बलात्कार द्वारा मुख में प्रविष्ट कराई गई विष्ठा या मूत्र से अशुद्ध मुख की शुद्धि जैसे करनी ही पड़ती है । वैसे ही बलात्कार द्वारा प्रविष्ट परपुरुष के वीर्य से अशुद्ध योनि की शुद्धि भी करनी ही चाहिए ।

बलात्कार से भोगी हुई, चोर के हाथ पड़ी हुई, स्वयं धोखे में पड़ी हुई या धोखे में डाली गई स्त्री अन्य से दूषित होने पर भी त्याग के योग्य नहीं होती । सभी के लिए प्रायश्चित्त कहे गये हैं, नारी के लिए तो विशेष रूप से कहे गये हैं—

बलात्कारोपभुक्ता वा चौरहस्तगतापि वा ।
स्वयं विप्रतिपन्ना वा अथवा विप्रमादिता ।।

(अत्रि० १९४)

अन्यतो दूषिताऽपि स्त्री न परित्यागमर्हति ।
सर्वेषां निष्कृतिः प्रोक्ता नारीणां तु विशेषतः ।।

अतः स्वेच्छा से भ्रष्ट स्त्री भी प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाती है । इस पक्ष में याज्ञवल्क्य के वचन का तात्पर्य यह है कि स्वेच्छा से

चण्डालो वाऽथ पापो वा शत्रुर्वा पितृघातकः ।
देशे कालेऽभ्युपगतो भरणीयो मतो मम ॥

(विष्णुधर्मोत्तरे)

अर्थ—चण्डाल, पापी, शत्रु तथा पितृघातक ये भी (अतिथि रूप में) देश-काल में आ जायें तो इनका भरण करना चाहिए, ऐसा मेरा मत है।

समाधान—साधारण भिक्षार्थी में और अतिथि रूप में आये भिक्षार्थी में शास्त्रदृष्टि से महान् अन्तर होता है। पाराशर स्मृति में कहा है कि 'अतिथि सर्वदेवमय होता है'—

हृदये कल्पयेद् देवं सर्वदेवमयो हि सः ।

(पाराशरस्मृतिः १।४८)

इसीलिए आगे पराशरजी कहते हैं कि 'पापी चाण्डाल, ब्रह्म-हत्यारा तथा पितृघातक भी अतिथि रूप में बलिवैश्वदेव के काल में प्राप्त हो जाय तो वह स्वर्गप्राप्ति करानेवाला होता है।

पापी वा यदि चण्डालो विप्रघ्नः पितृघातकः ।
वैश्यदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसङ्क्रमः ॥

(पराशरः १।५८)

शङ्का—यदि ऐसी बात है तो मनुजी ने यह क्यों कहा कि पाखण्डी, पापकर्मी, बिलावव्रती, शठ, कुतर्की तथा बकव्रती अतिथि की वाणी मात्र से भी अर्चना न करे—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

(मनु० ४।३०)

समाधान—मनुजी ने यहाँ 'नार्चयेत्' अर्थात् अर्चना-पूजा-आदर का ही निषेध किया है। अतिथि रूप में प्राप्त इन्हें भी भिक्षा देने के लिए तो मनुजी ही आगे कहते हैं कि 'शक्ति अनुसार गृहस्थ को देना चाहिए'—

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।

(मनु० ४।३२)

प्रश्न—यदि अतिथि चाहे जैसा हो उसको भिक्षा देनी ही चाहिए, तो अतिथि का लक्षण बताइये ?

उत्तर—अज्ञातकुलनामानमन्यदेशमुपागतम् ।
पूजयेदतिथिं सम्यङ् नैकग्रामनिवासिनम् ॥

(विष्णु पु० ३।११।५९)

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥

(मनु० ३।१०२)

अर्थ—जिसका कुल, नाम ज्ञात नहीं, अन्य देश से आया हो, ऐसे अतिथि की पूजा करे। एकग्रामवासी की नहीं। एक रात्रि ही निवास करनेवाला ब्राह्मण अतिथि कहा जाता है। नित्य न रहने से दूसरी तिथि में निवास न होने से अतिथि कहा जाता है।

ऐसे अतिथि निराश होकर जिसके घर से लौट जाते हैं, उसको अपने पाप देकर उसके पुण्य ले जाते हैं। अतः अतिथि को निराश नहीं करना चाहिए—

भ्रष्ट स्त्री मासिक धर्म से प्रायश्चित्त करने के योग्य शुद्ध हो जाती है। (देखिये पाराशरस्मृति ७।२ की विद्वन्मनोहर व्याख्या नाम की टीका)।

भिक्षा के अधिकारी-अनधिकारी

शङ्का—वर्तमान में सभी जाति के स्त्री-पुरुष साधु वेष में या असाधु वेष में अकेले या स्त्री-बच्चों सहित भिक्षा माँगते हुए देखने में आते हैं। उनमें से बहुत लोग तो युवावस्थावाले, स्वस्थ, कमाकर खाने लायक होते हैं। इन्हें भिक्षा देना तो सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि इससे इन लोगों में बिना कमाये खाने की आदत पड़ जाती है, देश में बेकारी बढ़ती है, विदेशों में बदनामी होती है। अतः यह बतायें कि शास्त्र के अनुसार भिक्षा के कौन अधिकारी हैं।

समाधान—यतिश्च ब्रह्मचारी च विद्यार्थी गुरुपोषकः।
(अत्रि स्मृ० १६२)

अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च षडेते भिक्षुकाः स्मृताः॥
व्याधितस्यार्थहीनस्य कुटुम्बात् प्रच्युतस्य च।
अध्वानं वा प्रपन्नस्य भिक्षाचर्या विधीयते॥

अर्थ—यति (संन्यासी) ब्रह्मचारी, विद्यार्थी, गुरु का पालन करनेवाला, मार्गगामी (राहगीर) तथा **जीविकारहित** ये छः भिक्षुक अर्थात् भिक्षा के अधिकारी हैं। रोगी, **अर्थहीन**, कुटुम्ब से बिछुड़ा तथा मार्गगामी के लिए भिक्षा का विधान है।

यहाँ दोनों शास्त्र वचनों में **जीविकारहित** तथा **अर्थहीन** ये दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। तात्पर्य यह है कि धन न होने पर ही यति, मार्गगामी, रोगी आदि को भिक्षा का अधिकार है, धन होने पर इन्हें भी अधिकार नहीं।

ऊपर शास्त्रवचनों में गिनाये गये भिक्षा-अधिकारियों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोग अपने सम्पूर्ण जीवन को स्व-पर, लोक-परलोक कल्याणकारी साधना में लगाते हैं, अतएव जीविका का साधन न कर सकने के कारण अर्थहीन हैं, अथवा कुटुम्ब से बिछुड़ने, रोगी होने आदि कारणों से जीविका रहित होकर धनहीन हो गये हैं, वही भिक्षा के अधिकारी हैं। इससे यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि जो लोग अध्ययन, भजन, ध्यान आदि कल्याणकारी साधन में सम्पूर्ण जीवन नहीं लगाते, धनसम्पन्न हैं, कमाकर खाने लायक ऐसे लोगों को भिक्षा का अधिकार नहीं है। यही कारण है कि 'व्रतरहित तथा अध्ययनरहित द्विजों को भी भिक्षा देनेवाले ग्राम को राजा दण्ड दे, क्योंकि वे चोरों को भिक्षा देते हैं' ऐसा अत्रि, पराशर तथा वसिष्ठजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेत् राजा चौरभक्तप्रदो हि सः॥
(वसिष्ठ स्मृ० अ० ३), (पराशर १।६०), (अत्रि स्मृ० २२)

जब कि व्रतरहित, अध्ययनरहित द्विजों को भी भिक्षा देने में दोष है तब जो पापी, शराबी, भांग-गाँजा-बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तु सेवन करनेवाले हैं, उन्हें तो भिक्षा देनी ही नहीं चाहिए। क्योंकि इन्हें दी गई भिक्षा दाता को भी दोषी बनाती है।

पापी अतिथि को भिक्षा देनी चाहिए या नहीं

शङ्का—यदि पापी को भिक्षा नहीं देनी चाहिए, तो पापी अतिथि के भरण का विधान क्यों है ?

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ।।

(विष्णु पु० ३।११।६६;३।९।१५), (महा० भा० शान्तिपर्व १९१।१२)

अतिथि के दिन में विमुख होकर चले जाने पर जितना पाप लगताहै, उससे आठगुना अधिक पाप सूर्यास्त होने पर विमुख जाने पर होता है—

दिवाऽतिथौ विमुखे तु गते यत्पातकं नृप ।
तदेवाष्टगुणं पुंसस्सूर्योढे विमुखे गते ।।

(विष्णु पु० ३।११।१०६)

इसका कारण यह है कि दिन में तो वह अतिथि अन्यत्र जाकर निर्वाह कर सकता है। सूर्यास्त के बाद रात्रि में अन्यत्र न जा सकने के कारण उसे कष्ट होगा।

अतिथिसेवा विधि

प्रश्न—अतिथि की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर—आसन, निवासस्थान, शय्या, अनुगमन तथा परिचर्या आदि सेवा, उत्तम अतिथि की उत्तम, हीन अतिथि की हीन और मध्यम अतिथि की मध्यम करे। ऐसा मनु कहते हैं—

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद् हीने हीनं समे समम् ।।

(मनुस्मृति० ३।१०७)

अतिथि सेवा में ऐसा भेद करने का कारण एक तो यह है कि विद्या, ज्ञान आदि उत्तम गुणों से युक्त अतिथि की उत्तम सेवा से विद्या, ज्ञान आदि उत्तम गुणों का ही सम्मान होता है, जिससे इन गुणों के सम्पादन की प्रेरणा लोगों को मिलती है। दूसरा कारण यह है कि उत्तम श्रेणी के खान-पान, मकान-शयन के अभ्यासी अतिथि को यदि निम्न श्रेणी के खान-पान आदि प्रदान किये जायेंगे तो उनके तन-मन को कष्ट होगा। इसलिए भरद्वाज ऋषि ने कंद-मूल-फल से भरतजी की सेवा न करके विचार किया—

मुनिहिं सोच पाहुन बड़ नेवता ।
तस पूजा चाहिअ जस देवता ।।

स्वयं न तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ।।

(मनु० ३।१०६)

अर्थ—जो वस्तु अतिथि को न खिलाये, उसे स्वयं भी न खाये। अतिथि का पूजन धन, यश तथा आयु प्रदान करनेवाला है।

अतिथि को प्रथम भोजन कराके ही बाद में स्वयं भोजन करना चाहिए। किन्तु विवाह कर आई नई बहू, कुमारी कन्या, रोगी तथा गर्भवती को अतिथि से पहले भोजन करा देने में भी कोई विचार करने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा मनुजी कहते हैं—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन् ।।

(मनु० ३।११४)

यदि घर में अन्न का अभाव हो तो भूमि, जल, तृण (आसन) तथा प्रियवचन से ही अतिथि की सेवा करे। सत्पुरुषों के घर में इन चारों का अभाव कभी नहीं होता—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।।
(मनु० ३।१०१)

अतिथि-सेवा के विषय में मनुस्मृति ३।९५ से ३।११६ तक अवश्य पढ़ना चाहिए।

भूख, प्यास, निद्रा और काम के वेग सहनीय हैं या नहीं

शङ्का—आयुर्वेद के भावप्रकाश आदि ग्रन्थों में भूख, प्यास, निद्रा और काम के वेगों को रोकने से हानि बताई हैं। किन्तु वेदानुसारी स्मृति, पुराणादि धर्मग्रन्थों में निर्जला एकादशी आदि व्रतों में अन्न-जल का सर्वथा त्यागकर पूर्ण उपवास करना तथा ब्रह्मचर्य पालन-पूर्वक निद्रा का त्याग कर पूरी रात्रि भजन-कीर्तन करने का विधान किया है। इस प्रकार आयुर्वेद और धर्मशास्त्र का परस्पर विरोध होता है। देखिये—

भोजनेच्छाविघातात् स्यादङ्गमर्दोऽरुचिः श्रमः ।
तन्द्रा लोचनदौर्बल्यं धातुदाहो बलक्षयः ।।
विघातेन पिपासायाः शोषः कण्ठास्ययोर्भवेत् ।
श्रवणस्यावरोधश्च रक्तशोषो हृदि व्यथा ।।
निद्राविघाततो जृम्भा शिरोलोचनगौरवम् ।
अङ्गमर्दस्तथा तन्द्रा स्यादन्नापाक एव च ।।

शरीरे जायते नित्यं देहिनः सुरतस्पृहा ।
अव्यवायान्मेहमेदोवृद्धिः शिथिलता तनोः ।।
(भावप्रकाश दिनचर्याप्रकरण १०९-११०-१११-२८०)

अर्थ—भोजन की इच्छा रोकने से शरीरटूटना, भोजन में अरुचि. श्रम, तन्द्रा, नेत्रों में दुर्बलता, धातुओं का दाह और बल का क्षय होता है। प्यास रोकने से कण्ठ और मुख सूखने लगता है, कान से शब्द सुनने में बाधा होती है, रक्त सूखता है तथा हृदय में पीड़ा होने लगती है। नींद रोकने से जंभाई, आँख और सिर में भार, शरीर का टूटना, तन्द्रा तथा अन्न का परिपाक नहीं होता। मनुष्य के शरीर में नित्य ही मैथुन की इच्छा होती है। मैथुन न करने से प्रमेह, मेदोवृद्धि और शरीर में शिथिलता होती है।

समाधान—आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्य स्थूल शरीर को स्वस्थ बनाना है। धर्मशास्त्र का मुख्य उद्देश्य सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन को स्वस्थ बनाना है। शब्दान्तर में यों कह सकते हैं कि आयुर्वेद मुख्य रूप से अर्थ-काम का प्रतिपादक लौकिक शास्त्र है और धर्मशास्त्र मुख्यरूप से धर्म-मोक्ष का प्रतिपादक अलौकिक शास्त्र है। लौकिक अर्थ-काम प्रतिपादक शास्त्र में तथा अलौकिक धर्म-मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र में परस्पर विरोध होने पर अर्थशास्त्र को छोड़कर धर्मशास्त्र का ही आचरण करे, क्योंकि अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र बलवान् होता है। ऐसा कहा गया है—

यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः ।
अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् ।।
(नारदस्मृतिः)

अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ।
(याज्ञ० स्मृ० २।२१)

मनुजीने भी कहा है कि धर्मरहित अर्थ-काम का परित्याग कर देना चाहिए—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।

(मनुस्मृति ४।१७६)

यही समाधान सर्वत्र ऐसे विरोधस्थलों में कर लेना चाहिए। अतः आयुर्वेद में प्याज, लहसुन, मद्य और मांस का विधान तथा धर्म-शास्त्र में इनका निषेध किया है। इसके अतिरिक्त जिनकी उपवास, ब्रह्मचर्यपालन में श्रद्धा तथा महत्त्वबुद्धि नहीं है, उन्हीं को कामादि के वेग रोकने से हानि होती है, सबको नहीं होती। निषिद्ध काम का वेग तो लोक और परलोक का नाशक होने से उसे रोकने का विधान तो भावप्रकाश में भी किया है—

कामशोकभयक्रोधान् मनोवेगान् विधारयेत् ।

(दिनचर्या-प्रक० २१)

वेतन द्वारा पढ़ना-पढ़ाना उचित है या नहीं

शङ्का—(१) भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।

(मनु० ३।१५६)

(२) धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥

(मनु० ३।१५६)

अर्थ—(१) जो वेतन लेकर पढ़ाता है तथा जो वेतन देकर पढ़ता है।

(२) जिससे धर्म और अर्थ की प्राप्ति न हो अथवा विद्या के अनुरूप सेवा भी न हो उसे विद्या नहीं पढ़ानी चाहिए। जैसे शुभ बीज ऊषर में नहीं बोते।

प्रथम वाक्य श्राद्ध में अभोज्य ब्राह्मणों के प्रसङ्ग में कहा है। जिससे ज्ञात होता है कि वेतन लेकर पढ़ाना तथा वेतन देकर पढ़ना उचित नहीं। द्वितीय वाक्य में कहा है कि 'जिससे अर्थ (धन) न मिले उसे न पढ़ाये' इससे ज्ञात होता है कि वेतन देनेवाले को ही पढ़ाना चाहिए। इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—प्रथम वाक्य में नियत वेतन अर्थात् इतना धन देने पर ही पढ़ाऊँगा, या इतना ही धन देकर पढ़ूँगा' इस प्रकार सौदा-बाजी करके पढ़ने-पढ़ानेवाले ब्राह्मण ही श्राद्ध में अभोज्य माने गये हैं। इससे 'नियत वेतन द्वारा ही विद्या का पढ़ना-पढ़ाना उचित नहीं' ऐसा अर्थ प्रथम वाक्य का है। इसलिए द्वितीय वाक्य में जो यह कहा है कि 'जिससे धन न मिले उसे न पढ़ाये' इसका भी अर्थ यह है कि जो अनियत अर्थात् 'अपनी शक्ति-अनुसार भी न दे, उसे न पढ़ाये'। यही समाधान मन्वर्थ मुक्तावली टीका में दिया है। देखिये—

न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयम् ।
यद्येतावन्मह्यं दीयते तदैतावद्
अध्यापयामीति नियमाभावात् ॥

(मनु० २।११२ की टीका)

अर्थ—धन ग्रहण करने पर वेतन द्वारा अध्यापन की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'यदि इतना धन मुझे दोगे तभी इतना पढ़ाऊँगा, ऐसा नियम यहाँ नहीं किया।'

शङ्का—नियत वेतन द्वारा पढ़ना-पढ़ाना उचित क्यों नहीं ? इसमें क्या दोष है ?

समाधान—जब कोई नियत वेतन माँगता है तब उसमें पढ़ने-वाले का गुरुभाव नहीं बनता, गौरव बुद्धि न होकर नौकर बुद्धि हो जाती है। यही कारण है कि आज विद्यार्थी अध्यापक को ट्यूशन करनेवाले को आने में देर हो जाने पर निःसंकोच डांट देता है कि मास्टर साहब! इतनी देर से क्यों आये? नौकरभाव हो जाने पर 'विद्या ददाति विनयम्' अर्थात् विद्या विनय को देती है, यह जो विद्या का फल है वह प्राप्त नहीं होता, किन्तु गुरुजनों का तिरस्कार करना रूप अनम्रता-उद्दण्डता रूप फल ही प्राप्त होता है। यही कारण है कि आज प्रायः विद्यार्थी अनम्र-उद्दण्ड हो रहे हैं।

दूसरा दोष यह है कि विद्या के लिए नियत वेतन दे सकने में असमर्थ गरीब लोग विद्या से वञ्चित रह जाते हैं। यह भी आज सभी को प्रत्यक्ष ही है। तीसरा दोष यह है कि विद्या की अपेक्षा अर्थ का महत्त्व अधिक हो जाता है। नियत वेतन लेकर पढ़ानेवाले में भी गुरुभाव नहीं बनता किन्तु हीनता का ही भाव बनता है। इन सब कारणों से नियत वेतन द्वारा पढ़ना-पढ़ाना उचित नहीं माना गया है।

यही कारण है कि शास्त्र के इस रहस्य को जाननेवाले काशी आदि स्थानों में कुछ अध्यापक तथा विद्यार्थी स्वतन्त्ररूप से वेतन नियत किये विना पढ़ते-पढ़ाते हैं। राजकीय विद्यालयों में अब यह व्यवस्था होना संभव नहीं, तो भी गुरु-शिष्य के बीच जो सद्भाव होना चाहिए, उसे रखने का प्रयास तो करना ही चाहिए।

विना पूछे उपदेश करे या नहीं ?

शंका—(१) नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥

(मनु० २।११०), (शान्तिपर्व २८७।३५)

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥

(मनु० २।१११), (आदिपर्व ३।९१), (शान्तिपर्व ३२७।५१-५२)

(२) अनुक्तेनापि सुहृदा वक्तव्यं जानता हितम्।
न्याय्यं च प्राप्तकालं च पराभवमनिच्छता॥
कर्त्तव्यं सर्वथा सद्भिरप्रियं चापि यद् हितम्।
आनृण्यमेतत् स्नेहस्य सद्भिरेवादृतं पुरा॥

(हरिवंश विष्णुपर्व ७१।५-६)

अर्थ—(१) विना पूछे किसी को कुछ न कहे तथा अन्याय से (अर्थात् परीक्षा करने के लिए या अपनी योग्यता प्रगट करने के लिए या उपहास करने के लिए) पूछे तो भी न कहे। जानता हुआ भी मेधावी पुरुष जड़ की तरह लोक में आचरण करे। क्योंकि जो अधर्म (अन्याय) से जो पूछता है या जो अन्याय से कहता है, उनमें से अन्याय करनेवाला मर जाता है या विद्वेष करने लगता है।

(२) जाननेवाला सुहृद् विना पूछे भी हित का कथन करे। जो अपने व्यक्ति का पराभव (अनिष्ट) नहीं चाहता, उसे समय पर न्याय युक्त बात बता देनी चाहिए। सद्पुरुषों को हितकर कर्म अप्रिय होने पर भी अवश्य करना चाहिए। यह तो स्नेह से उऋण (उद्धार) होना है, इसीलिए सत्पुरुषों ने पहले इसका आदर किया था।

यहाँ प्रथम भाग में विना पूछे उपदेश न करे और द्वितीय भाग में विना पूछे भी उपदेश करने को कहा है। इस विरोध का क्या समाधान है ?

समाधान—इसका समाधान हरिवंशपर्व में वहीं लिखे वचन से हो जाता है—

अनृते धर्मभग्ने च न शुश्रूषति चाप्रिये ।
न प्रियं न हितं वाच्यं सद्भिरेवेति निन्दिताः ।।

(हरि० विष्णुपर्व ७१।७)

अर्थ—जो असत्यवादी हैं, धर्मभ्रष्ट हैं, सुनना नहीं चाहते तथा अप्रिय हैं, ऐसे लोगों से प्रिय-हितकर बात भी नहीं कहे, क्योंकि सत्पुरुषों ने इनकी निन्दा की है।

तात्पर्य यह है कि ऐसे दुष्ट पुरुषों को उपदेश देने पर वे उसका सदुपयोग तो करेंगे ही नहीं, किन्तु उपदेश देनेवाले से द्वेष करेंगे, निन्दा करेंगे तथा कष्ट पहुँचानै का प्रयास भी करेंगे। इससे उन्हें नरक ही मिलेगा, उपदेष्टा को भी कष्ट भोगना पड़ेगा। इस प्रकार दोनों की हानि होगी। इसीलिए प्रथम भाग में बिना पूछे उपदेश करने को मना किया है। परन्तु जो दुष्ट नहीं तथा स्नेह-श्रद्धा-भक्ति से युक्त हैं, उन्हें तो बिना पूछे उपदेश करने पर भी वे उसका सदुपयोग करेंगे, उपदेष्टा का आदर करेंगे, इस प्रकार दोनों को लाभ होने के कारण द्वितीय भाग में बिना पूछे भी बताने को कहा है।

इसीलिए भागवत में भी स्पष्ट कहा है कि अनुयायी, शिष्य और पुत्रों को बिना पूछे भी दीनवत्सल गुरु उपदेश करते हैं—

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ।।

(भाग० ३।७।३६)

चरित्र प्रमाण है या वेद-शास्त्र

शङ्का—(१) **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'**

(मनु० २।६)

(२) **तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना**
नैकोमुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।।

(वनपर्व ३१३।११७)

अर्थ—(१) सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है।

(२) तर्क प्रतिष्ठारहित है। श्रुतियाँ भी नानाप्रकार की हैं। कोई भी मुनि ऐसा नहीं जिसका मत प्रामाणिक हो। अतः धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा है। इसलिए महापुरुष जिस मार्ग से गये हैं, वही पन्थ है।

यहाँ प्रथम भाग में वेद को ही धर्म में प्रमाण कहा है, किन्तु द्वितीय भाग में 'श्रुतियाँ (वेद) भी नानाप्रकार की हैं' ऐसा कहकर वेदों को भी प्रमाण नहीं माना। इस विरोध का क्या समाधान है?

समाधान—शरीर से भिन्न आत्मा, उसी आत्मा का जन्मान्तर में होना, स्वर्गादि परलोक तथा जन्मान्तर की प्राप्ति करानेवाले कर्म, इनमें कारणकार्यभाव आदि की सिद्धि वेद के अतिरिक्त किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से नहीं हो सकती। अतः वेद तथा वेदानुसारी मनुस्मृति आदि शास्त्र ही मुख्य रूप से कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में प्रमाण हैं। परन्तु जनसामान्य विविध वेदशास्त्रों का अनुसन्धान करके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय करे ऐसा सम्भव न होने के कारण महा-

भारत में उनके लिए सामान्यतः यह कह दिया है कि 'महापुरुष जिस मार्ग से गये हैं, वह पन्थ है'। अतः श्रुतियों (वेदों) के प्रमाण न मानने में महाभारत के वचन का तात्पर्य नहीं। इसलिए दोनों भागों के वचनों में विरोध है ही नहीं।

वेदशास्त्रों को छोड़कर महापुरुषों के चरित्र को ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में प्रमाण मानने पर समस्या और अधिक जटिल हो जायेगी। देखिये भरतजी ने पिता की आज्ञा नहीं मानी, किन्तु परशुरामजी ने पिता की आज्ञा मानकर माता को भी मार डाला। भरतजी ने माता का तिरस्कार किया, किन्तु युधिष्ठिर ने माता के वचन का सत्कार कर एक द्रौपदी के साथ पाँचों भाइयों ने विवाह, कर लिया। इस प्रकार इतिहासों में महापुरुषों के चरित्र भी परस्पर विरुद्ध देखने में आते हैं। इनमें से किसका कौन सा चरित्र प्रमाण है? इसका निर्णय करने के लिए भी अन्त में यही कहना पड़ेगा कि जिसका, जो चरित्र वेदशास्त्र सम्मत है, वही प्रमाण है। ऐसी दशा में वेदशास्त्रों को ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में मुख्य प्रमाण मानना होगा। यही कारण है कि गीता में कहा कि—कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'।

(गीता १६।२४)

सामान्य महापुरुषों के ही नहीं किन्तु शास्त्रनिर्माता महापुरुषों के भी सभी चरित्रों को प्रमाण नहीं माना जाता। इसका परम गंभीर रहस्यमय कारण यह है कि शास्त्र का निर्माण सात्त्विक अवस्था में किया जाता है, किन्तु आचरण तो कभी रजोगुण-तमोगुण की अवस्था में भी हो जाते हैं। यही कारण है कि कलियुग में पराशर ऋषि निर्मित स्मृति रूप शास्त्र को प्रमाण विशेष रूप से माना जाने पर भी उनका मत्स्यकन्या-गमन प्रमाण नहीं माना जाता।

एक के लिये अनेक का त्याग उचित कैसे ?

शङ्का—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

(महाभारत सभापर्व ६२।११, उद्योगपर्व ३७।१७/१२८।४९)

अर्थ—कुल के लिए एक को, ग्राम के लिए कुल को त्याग दे। ग्राम को जनपद (जिला-प्रान्त-देश) के लिए त्याग दे। अपने लिए पृथ्वी को त्याग दे।

यहाँ यह शंका होती है श्लोक के तीन पादों में जो बात कही है अर्थात् अनेक व्यक्तिवाले कुल के हित के लिए एक व्यक्ति का, अनेक कुलोंवाले ग्राम के हित के लिए एक कुल का तथा अनेक ग्रामों-वाले जनपद के हित के लिए एक ग्राम का त्याग कर दे। यह बात तो ठीक है, क्योंकि अनेक के हित के लिए एक का त्याग सर्वथा न्यायोचित है। परन्तु चोथे पाद में जो अपने लिए पृथ्वी अर्थात् सब का त्याग करने की बात कही है, सो ठीक नहीं लगती। क्योंकि एक के हित के लिए अनेक (सब) का त्याग करना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। इस शंका का समाधान क्या है?

समाधान—आप की शङ्का सर्वथा उचित है, सावधान होकर समाधान सुनिये। इस श्लोक में समाजसुधारक परोपकारी लोगों को एक गंभीर चेतावनी युक्त शिक्षा दी गई है। प्रायः समाजसुधारक लोग ऐसा मानने लग जाते हैं कि समाज के कल्याण में मेरा सारा-जीवन लग जाये, भले ही मेरा कल्याण न हो, समाज का कल्याण तो हो जायेगा। परन्तु काम-क्रोध-लोभादि दोषों को दूर करके अपना कल्याण किये बिना जो लोग समाज के कल्याण करने का प्रयत्न करते हैं, वे लोग वैसे ही असफल, उपहासयोग्य, अदूरदर्शी होते हैं, जैसे स्वयं चलने में असमर्थ पुरुष दूसरों को कन्धे पर लेकर चलने में होता है।

तात्पर्य यह है कि जिसने साधना द्वारा अपने को कामादि दोषों से मुक्त नहीं किया, वह व्यक्ति समाज-सुधार की योजनाओं को बनाते तथा कार्यान्वित करते हुये कामादि दोषों से पद-पद पर भ्रष्ट हो जायेगा। जिससे समाज पर बहुत बुरा असर पड़ेगा। समाज की यह धारणा हो जायेगी कि कल्याण की बातें केवल कहने सुनने की हैं, कञ्चन-कामिनी, पद-प्रतिष्ठा ही जीवन के लक्ष्य हैं। इससे समाज का और अधिक पतन होगा। इसलिए समाज का कल्याण वही कर सकता है, जिसने पहले अपना कल्याण कर लिया हो। इसीलिए महाभारत का सर्वज्ञ व्यासजी ने अति दूरदर्शी बुद्धि से निर्णय करके यह कहा कि 'अपने लिए पृथ्वी को त्याग दे'। इस गंभीर शिक्षायुक्त चेतावनी पर ध्यान न देने का ही परिणाम आज सर्वत्र देखने में आ रहा है। सभी क्षेत्रों में उपदेष्टाओं, नेताओं, समाजसेवकों तथा सुधारकों की संख्या अधिक होने पर भी समाज का उत्थान न हो कर पतन ही होता जा रहा है।

सेवा लेना ठीक है या नहीं

शंका—द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥
(उद्योगपर्व ३३।६०)

द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ।
यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति॥
(भाग० ४।२७।२५)

अर्थ—गले में दृढ़शिला बाँधकर दो को जल में डुबा देना चाहिए—

१. धनी होकर जो दान नहीं करता। २. दरिद्र होकर जो तप नहीं करता, अर्थात् धन के बिना होनेवाले कष्टों को नहीं सहन करता।

(विद्वान् लोग) दो हठियों के बारे में शोच करते हैं—३. जो लोकशास्त्रसम्मत प्राप्त (वस्तु) को नहीं देता है। ४. और जो लोकशास्त्रसम्मत (वस्तु) को नहीं लेता है।

यहाँ दूसरे वचन से तो यह सिद्ध होता है कि धन के बिना होने वाले कष्टों को सहन ही करना चाहिए, किसी से सेवा नहीं लेनी चाहिए। परन्तु चौथे वचन से यह सिद्ध होता है कि लोकशास्त्र-सम्मत वस्तु अवश्य लेनी चाहिए।

पहले तथा तीसरे वचन से तो यह सिद्ध होता है कि धनी को अवश्य धन का दान कर सेवा करनी चाहिए। परन्तु दूसरे वचन के अनुसार दरिद्र जब लेगा ही नहीं तो धनी किसे देगा। धनी कहे मैं दूँगा ही और निर्धन कहे मैं लूँगा ही नहीं। इस प्रकार तो कलह ही होगा। इन विरोधी वचनों का तात्पर्य क्या है?

समाधान—दूसरे वचन का तात्पर्य यह है कि **जहाँ तक हो सके** किसी से सेवा नहीं लेनी चाहिए। क्योंकि जो सेवा लेता है उसका पुण्य सेवा करनेवाले के पास चला जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर कुछ लोग इतने अधिक असद्-आग्रही अर्थात् हठी हो जाते हैं कि सर्वथा असमर्थ हो जाने पर भी अपने पुत्र, शिष्य आदि से भी सेवा नहीं लेते। ऐसे लोगों के असद्-आग्रह (हठ) को छुड़ाने के लिए चौथे वचन में उन्हें शोचनीय बताया गया है। क्योंकि पुत्र तथा शिष्य की माता-पिता-गुरु ने प्रथम लालन-पालन-ज्ञानदान आदि के द्वारा बहुत सेवा की है, अतः उनसे सेवा लेने का अधिकार लोक-शास्त्रसम्मत है। उसे न लेकर कष्ट सहना तो भजन, ध्यान आदि कल्याणकारक साधनों का भी बाधक होने से ठीक नहीं तथा पुत्र

तथा शिष्य को लोकशास्त्रसम्मत सेवा के अधिकार से वंचित करना भी ठीक नहीं ।

पहले तथा तीसरे वचन से धनी द्वारा देने का और निर्धन द्वारा न लेने का कलह होना जो दिखाया है, वह भी ठीक नहीं । क्योंकि यह कलह का नहीं, किन्तु परमशान्ति का देनेवाला है । क्योंकि दरिद्र जब किसी से कुछ न लेकर कष्ट सहन करता हुआ कहता है कि 'मैं नहीं लूँगा' तब उसके हृदय मे सन्तोष उदित होकर शान्ति प्रदान करता है । दरिद्र के उस वचन को सुनकर धनी के हृदय में श्रद्धा उदित होकर शान्ति प्रदान करती है । इसके विपरीत यदि दरिद्र कहे कि मैं 'अवश्य लूँगा' तो उसके हृदय में असन्तोष से कलह होगा और उस वचन को सुनकर धनी के हृदय में अश्रद्धा से कलह होगा । **अत्यन्त असमर्थ अवस्था में भी** दरिद्र को कुछ नहीं लेना चाहिए, इसमें तात्पर्य दूसरे वचन का नहीं हैं । अतः धनी किसे देगा ? यह प्रश्न ही नहीं बनता । इस विवेचन से दोनों श्लोकों के सम्मिलित तात्पर्य से यह सिद्ध होता है कि 'जहाँ तक हो सके सेवा न ले, अति-आवश्यकता में लोकशास्त्रसम्मत सेवा न लेनेवाले तथा न करनेवाले दोनों ही ठीक नहीं । इस रहस्य को न जानने के कारण ही आज धनी-निर्धन में कलह हो रहा है ।

ज्ञानी सुखी है या अज्ञानी

शङ्का–(१) यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

(भाग० ३।७।१७), (महाभारत शान्तिपर्व २५।२८; १७४। ३३)

(२) नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

(गीता ४।४०)

अर्थ—(१) संसार में जो अत्यन्त मूढ़ (अज्ञानी) है तथा जो बुद्धि से परे जा चुका है अर्थात् ज्ञानी है, ये दो सुख प्राप्त करते हैं । इनसे भिन्न जन तो क्लेश ही पाते हैं ।

(२) संशयवान् के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख है ।

यहाँ यह शंका होती है कि प्रथम भाग में जो ज्ञानी को सुखी कहा है सो तो ठीक है, क्योंकि वह सभी बातों को ठीक-ठीक समझता है । किन्तु जो अत्यन्त मूढ़ (अज्ञानी) है वह तो किसी भी बात को ठीक-ठीक नहीं समझता, अतः उसे तो संसार में व्यवहार करते पद-पद पर दुःखी होना पड़ता है । उस अज्ञानी को भी सुखी क्यों कहा है ? ऐसा कहना तो गीता ४।४० के उक्त वचन से भी विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि जब संशयात्मा को ही सुख नहीं मिलता तब अज्ञानी को सुख कैसे मिलेगा ?

समाधान—भागवत में अज्ञानी को भी सुखी तत्त्वनिरूपण के प्रसङ्ग में कहा है । अतः प्रसङ्गानुसार यह अर्थ होता है कि तत्त्व के विषय में जो ठीक-ठीक जाननेवाले ज्ञानी हैं, वे सुखी होते हैं । क्योंकि उन्हें तत्त्व के विषय में कोई सन्देह नहीं रहा । गीता ४।४० के अनुसार सन्देह (संशय) वाले को ही सुख नहीं मिलता क्योंकि तत्त्व तथा तत्त्वप्राप्ति के साधन के बारे में उसका मन भटकता रहता है । इस दृष्टि से देखा जाय तो जो तत्त्वविषय में अत्यन्त मूढ़ (अज्ञानी) हैं, उनका मन भी नहीं भटकता । उन्हें तो तत्त्वज्ञानी जो साधन बता देते हैं, उसे सुनकर उसमें सन्देह रहित होकर लग जाते हैं । अतः तत्त्व के विषय में संशय न होने के कारण ज्ञानी की तरह अज्ञानी का मन भी भटकता नहीं । इसलिए दोनों ही सुखी रहते हैं । रही बात तत्त्वप्राप्ति की, सो तो ज्ञानी से सुनकर सन्देह रहित

होकर साधना करने के कारण उन्हें हो ही जायेगी। गीता १३।२५ में यह बात स्पष्ट कही ही है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

(गीता १३।२५)

यद्यपि गीता ४।४० में अज्ञानी को सुख नहीं होता, ऐसा भी कहा है। परन्तु उसी अज्ञानी, संशयात्मा को सुख नहीं मिलता जो श्रद्धा रहित है। यह बात गीता ४।४० के ही श्लोक में 'अश्रद्दधानः' पद से स्पष्ट हो जाती है। प्रसङ्गानुसार यहाँ तत्त्व के विषय में ही ज्ञानी-अज्ञानी के सुखी होने की बात कही गयी है, व्यवहार के विषय में नहीं कही गई तो भी व्यवहार के विषय में जो अज्ञानी हैं वे भी यदि श्रद्धा करके व्यवहारज्ञानी के वचनानुसार सन्देह रहित होकर व्यवहार करते हैं तो व्यवहार में भी सुखी रहते हैं।

धर्म रक्षा करता है या नहीं

शंका—धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

(मनु० ८।१५), (महाभारत वनपर्व ३१३।१२८)

अर्थ—मारा हुआ धर्म ही मार डालता है तथा रक्षित धर्म रक्षा करता है।

इस वचन का तात्पर्य यह है कि जो धर्माचरण नहीं करते वे नष्ट हो जाते हैं और जो धर्माचरण करते हैं वे फलते-फूलते हैं, सुखी रहते हैं। परन्तु संसार में हजार-हजार नर नारी ऐसे देखने में आते हैं जो धर्माचारी हैं वे दुःखी हैं और जो अधर्माचारी हैं वे सुखी हैं।

अतः 'धर्मरक्षा करता है' यह कैसे माना जाय ? वर्तमान कलियुग में ही नहीं किन्तु प्राचीन सतयुग आदि में भी अनेक धर्माचारी दुःखी और अधर्माचारी सुखी रहे, ऐसा पुराणों में पढ़ने को मिला है। यही कारण है कि इस कलियुग के ही नहीं किन्तु सतयुग के धर्माचारियों को भी सन्देह हुआ कि 'धर्म रक्षा करता है या नहीं'। महाभारत में भी कहा है—

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणा सर्वकर्मभिः ॥

(वनपर्व २०९।९)

अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः ।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः ॥
भूतानामपरः कश्चिद् हिंसायां सततोत्थितः ।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते ॥

(वनपर्व २०९।१०)

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठति ।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति ॥

(वनपर्व २०९।११), (महाभारत शान्तिपर्व ३३१।१० से १३)

अर्थ—संयमी, दक्ष, बुद्धिमान् मनुष्य भी असफल तथा सर्वकर्मों से रहित देखे जाते हैं। दूसरे मूर्ख, निर्गुण, महापुरुषों के आशीर्वाद से भी रहित, अधम पुरुष भी सभी कामनाओं से युक्त देखे जाते हैं। दूसरे जो भूतों की हिंसा में सदा लगे रहते हैं, लोगों को ठगते रहते हैं, वे सुख से बूढ़े होते हैं। कुछ भी न करनेवाले, बैठे रहनेवाले

के पास भी लक्ष्मी उपस्थित होती है। कोई कर्म का अनुष्ठान करके भी उचित धन नहीं पाते।

समाधान—इस जन्म में किया हुआ शुभाशुभ कर्म प्रायः जन्मान्तर में ही फल देता है, तुरन्त नहीं देता।

'नहि लोके कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव'।

इसलिए इस जन्म में जो धर्माचारी हैं वे भी जन्मान्तर के अशुभ कर्मों के कारण दुःखी देखे जाते हैं और जो इस जन्म में दुराचारी हैं वे भी जन्मान्तर के शुभ कर्मों के कारण सुखी देखे जाते हैं। इस रहस्य को जो जान लेते हैं, उन्हें यह सन्देह कभी नहीं होता कि 'धर्म रक्षा करता है या नहीं'।

शान्तिपर्व ३३१।१० से १३ तक के जो श्लोक लिखें हैं उनका तात्पर्य तो 'कर्मफल की प्राप्ति में मनुष्य ईश्वर के पराधीन है' यही बताने में है, क्योंकि उनके पहले श्लोक में स्पष्ट कहा है कि पुरुष यदि क्रिया के फल की प्राप्ति में पराधीन न होता तो जो चाहता प्राप्त कर लेता—

योऽयमिच्छेत् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात्।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम्॥

(शान्तिपर्व० ३३१।९), (वनपर्व० २०९।८)

यदि धर्म-अधर्म का फल तुरन्त या इस जन्म में न मिलने से उसमें सन्देह किया जाय तो चिकित्सा, व्यापार आदि के फल भी सन्दिग्ध हो जायेंगे। क्योंकि जन्मान्तर के कर्मों के कारण बहुत बार वे भी सफल नहीं होते। इसीलिए शान्तिपर्व के श्लोकों में दक्षता आदि का भी नाम लिया है।

वेतन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए या नहीं

शंका—(१) 'पूयं चिकित्सकस्यान्नम्'।

(मनु० ४।२२०)

'नैव कुर्वीत लोभेन चिकित्सापुण्यविक्रयम्'।

(भावप्रकाशमिश्र० प्र० ३४)

(२) चिकित्सितं शरीरं यो न निष्क्रीणाति दुर्मतिः।
स यत्करोति सुकृतं सर्वं तद्भिषगश्नुते॥

(भावप्रकाशमिश्र प्र० ३५)

अर्थ—(१) वैद्य का अन्न पूयं (पीप) के समान है। वैद्य लोभ से चिकित्सा करने से उत्पन्न पुण्य को न बेचे (इन दोनों वचनों से यह सिद्ध होता है कि धन लेकर दवा न करे)।

(२) जो दुर्मति शरीर की चिकित्सा के बदले धन आदि नहीं देता, वह जो कुछ पुण्य करता है वह सब पुण्य वैद्य को मिल जाता है (अर्थात् धन देकर ही दवा कराये)।

प्रथम अंक के वचन धन लेकर चिकित्सा (दवा) न करने की और द्वितीय अंक के वचन धन देकर ही चिकित्सा कराने की प्रेरणा करते हैं। इस विरोध का समाधान बताने की कृपा करें। जब वैद्य धन नहीं लेगा तो उसकी जीविका कैसे चलेगी?

समाधान—धन लेकर दवा करने पर प्रायः वैद्य-डाक्टरों में धन का लोभ इतना अधिक हो जाता है कि निर्धन को दवा नहीं करते तथा धनियों से धन चूसने के लिए रोगी को अधिक दिनों तक परेशान करते रहते हैं। यह बात वर्तमान में सबके अनुभव से सिद्ध है। ऐसे वैद्य-डाक्टरों के धन और उससे सम्पादित अन्न को पूय (पीप) बताना सर्वथा ठीक ही है। इन दोषों को दूर करने के लिए ही धन

लेकर दवा न करने की प्रेरणा प्रथम अंक के वचनों द्वारा की गई है। एक मुसलमान हकीम ने भी फीस (वेतन) लेने से इनकार करते हुये कहा कि हमारे धर्म में फीस लेना मना है।

दूसरे अंक के वचनों का तात्पर्य यह है कि दवा करानेवाले को अपनी **सामर्थ्य के अनुसार** वैद्य को अवश्य कुछ देना चाहिए। ऐसा विधान कर देने से वैद्य की जीविका चलने में भी कोई बाधा नहीं होती। क्योंकि यदि निर्धन से कम या कुछ भी नहीं मिलेगा तो धनियों-महाधनियों-राजाओं से बहुत प्राप्त हो जायेगा। इसीलिए भावप्रकाश के उसी श्लोक के उत्तरार्ध में कहा है कि जीविका के लिए समर्थ धनियों से धन ले—

'ईश्वराणां वसुमतां लिप्सेतार्थं तु वृत्तये'

(भावप्रकाशमिश्र प्र० ३४)

विद्या, दवा, पाठ-पूजा आदि कार्यों में नियत वेतन की निन्दा तथा सामर्थ्य अनुसार अनियत वेतन की अनुमति दी गई है, इसमें अनेक महान् लाभ हैं। (१) निर्धन मनुष्य भी विद्या, दवा आदि से वंचित नहीं रहता। (२) धनियों के धन का सदुपयोग हो जाता है। (३) गुरु-शिष्य, वैद्य-रोगी तथा पुरोहित-यजमान के बीच सम्मान-सौहार्द का भाव सदा के लिए विद्यमान हो जाता है। (४) गुरु-वैद्य-पुरोहित में निष्कामता आती है। (५) धनी शिष्य-रोगी-यजमान में सेवा भाव आता है।

४०-५० वर्ष पूर्व तक ये भाव बहुत देखने में आते थे अब भी कुछ देखने में आते हैं। दुर्भाग्यवश इनका लोप होता जा रहा है। ऊपर लिखे लाभों को देखते हुए बिना वेतन लिए ही चिकित्सा करना ठीक है। यदि युगीय या राजकीय बाधाओं के कारण ऐसा करना संभव न हो तो रोगी का शोषण न हो यह तो ध्यान में रखना ही चाहिए।

कथा-प्रवचन विधि

युधिष्ठिर उवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।

(भा० ७।११।२)

नारद उवाच—

वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्।

(भा० ७।११।७)

नारद उवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।

(भाग० ११।२।१४)

अर्थ—युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन्! मनुष्यों के सनातन धर्म को सुनना चाहता हूँ। नारदजी ने कहा—नारायण भगवान् के मुख से सुना सनातन धर्म कहूँगा। इस विषय में वह पुरातन इतिहास का कथन करते हैं।

इसी प्रकार महाभारत आदि ग्रन्थों में युधिष्ठिर आदि के पूछने पर भीष्मपितामह आदि सीधे स्वयं उत्तर न देकर 'इस विषय में यह पुराना इतिहास है। 'ऐसा ही प्रश्न अमुक से अमुक ने किया था, उसने जो उत्तर दिया था उसे मैं तुम्हें सुना रहा हूँ।' इस प्रकार दूसरों से सुनी सुनाई बातें ही कहते हैं।

शङ्का—यहाँ यह शङ्का होती है कि नारदादि अपने अनुभव से उत्तर क्यों नहीं देते? क्या वे स्वयं कुछ भी नहीं जानते थे।

समाधान—भगवान् नारद आदि महापुरुष सब कुछ जानते थे, तो भी हम लोगों को कथा-प्रवचन की विधि सिखाने के लिए ही दूसरों से सुनी सुनाई बातें सुनाते थे। इससे अनेकों लाभ तथा शिक्षायें मिलती हैं। देखिये—

१—यह ज्ञान परम्परा से प्राप्त है, अर्थात् अनादिसिद्ध है नूतन नहीं।

२—गुरुमुख से प्राप्त हुआ है, मनमुखी नहीं है। इससे स्वतन्त्र खोज का अभिमान नहीं होता।

३—इसमें जो कुछ गुण हैं वे मेरे नहीं। इससे अपने में गुणों का अभिमान नहीं होता।

४—यदि इसमें कुछ कमी है वह भी मेरी नहीं। इससे अपने में हीनता का भाव नहीं आता।

वर्तमान में अधिकांश कथा-प्रवचनकार इस प्राचीन शैली के विपरीत जो कुछ ज्ञान का बखान करते हैं उसे अपना नूतन अन्वेषण बताने के लिए स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं कि 'यह बात तुम्हें ग्रन्थों में नहीं मिलेगी' 'और कोई नहीं बता सकता'। इससे उनमें स्वतन्त्र खोज का तथा अपने गुणों का अभिमान होता है। यह अभिमान उनके पतन का हेतु बन जाता है। यदि उनके कथन में कोई कुछ कमी दिखा देता है तो वे हीनता के भाव से ग्रस्त हो जाते हैं या उत्तर न दे सकने से क्रोध में भरकर कमी दिखानेवाले के साथ अभद्र व्यवहार कर बैठते हैं।

इस प्रकार प्राचीन कथा-प्रवचन विधि के लाभों को तथा अर्वाचीन कथा-प्रवचन शैली के दोषों को समझ कर प्राचीन कथा-प्रवचन विधि को अपनाना चाहिए। सत्य तो यह है कि आत्मा-परमात्मा, धर्म-अधर्म आदि अलौकिक तत्त्वों के विषय में ही नहीं, किन्तु भाषा, भोजन, वस्त्र, औषध आदि लौकिक तत्त्वों के विषय में भी दूसरों के ज्ञान का आदान एवं सम्मान करके ही जीवनयापन कर पाते हैं। ऐसी दशा में आत्मा-परमात्मा, धर्म-अधर्म आदि अलौकिक तत्त्वों के विषय में वेदशास्त्र तथा सन्तों से ज्ञान का आदान करना और उसे उसी रूप में उपस्थित करना चाहिए। स्वतन्त्र खोज का मिथ्या अभिमान नहीं करना चाहिए।

सत्संग, भजन, दानादि से क्या लाभ ?

शङ्का—(१) जो लोग सत्संग करते हैं, उनमें भी कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो अति स्वार्थपरायण तथा परोपकार का कार्य कभी भी नहीं करते एवं जो लोग सत्संग नहीं करते हैं, उनमें भी कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विवेकी, स्वार्थरहित तथा परोपकार के कार्य में ही सारा जीवन लगा देते हैं। ऐसी दशा में यह शङ्का होती है कि सत्संग करने से क्या लाभ ?

(२) भजन-ध्यान करनेवालों में भी कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अतिकामी, क्रोधी, लोभी, मोही होते हैं एवं भजन-ध्यान न करनेवालों में भी कुछ लोग ऐसे होते हैं जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषों से रहित होते हैं। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि भजन-ध्यान से मन शान्त और शुद्ध होता है ?

(३) एवं दान, गंगा-स्नान, व्रत, तीर्थ आदि महान् पुण्य कार्य करनेवालों में भी कुछ लोग आजीवन दुःख-दारिद्र्य से पीड़ित रहते हैं। इसके विपरीत दान आदि न करनेवालों में भी कुछ लोग ऐसे होते है कि नित्य पाप करते रहते हैं, तो भी आजीवन सुख-सम्पत्ति से युक्त रहते हैं। ऐसी दशा में यह कैसे माना जा सकता है कि दान आदि से दुःख-दारिद्र्य का नाश होता है ?

(४) पुत्र पर अति ममता होने के कारण तथा पुत्र के धनहीन होने से स्वयं को अन्न, वस्त्र, औषध न मिलने के कारण माता-पिता अति कष्ट पाते हैं। अतः जब उनका सेवापरायण पुत्र पाद-वन्दना करने आता है तब सच्चे हृदय से आशीर्वाद देते हैं, तो भी पुत्र को धन प्राप्त नहीं होता। ऐसी दशा में माता-पिता के आशीर्वाद से धन-धान्य का लाभ होता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? इसके विपरीत जो माता-पिता को सब तरह का कष्ट देते हैं, यहाँ तक की मारते-पीटते भी हैं, इसलिए उनके माता-पिता कभी-भी आशीर्वाद नहीं

देते, ऐसे लोग भी धन-धान्य-सम्पन्न सम्पूर्ण जीवन सुखमय व्यतीत करते हैं। ऐसी दशा में माता-पिता को कष्ट देने से दुःख मिलता है यह कैसे कहा जा सकता है। कहाँ तक कहें शास्त्रों में जिन-जिन बातों को सुख का साधन कहा है उनको आजीवन करनेवाले भी कुछ लोग आजीवन दुःखी देखे जाते हैं। इसके विपरीत शास्त्रों में जिसे दुःख का साधन कहा है, उनको आजीवन करनेवाले भी कुछ लोग आजीवन सुख भोगते देखे जाते हैं। ऐसी दशा में शास्त्रकथित सत्संग आदि सभी साधनों के बारे में यह शंका होती है कि इनसे क्या लाभ ?

समाधान—शास्त्र कथित भजन-दानादि अलौकिक साधन ही नहीं किन्तु लोक प्रसिद्ध खेती आदि साधन भी तभी फल देते हैं जब वे कालान्तर में परिपक्व होते हैं, तत्काल फल नहीं देते। देश, काल आदि सहयोगी सामग्री के होने तथा प्रतिबन्धक विरोधी सामग्री के न होने पर ही साधन परिपक्व होते हैं। साधन (कर्म) स्वभाव-वैचित्र्य के कारण कोई साधन दीर्घकाल में, कोई इसी जन्म में, कोई जन्मान्तर में परिपक्व होते हैं। जैसे खीरा, खरबूजा आदि एक दो महीने में, आमादि ८-१० वर्ष में, खिरनी आदि ३०-४० वर्ष में परिपक्व होकर फल देते हैं। इनके स्वभाववैचित्र्य को न जानने के कारण यदि कोई आम का बीज बोकर ४-६-१२ महीने तक वर्षा ऋतु में फल न आने पर यह कहने लगे कि 'आम का बीज बोने पर उसमें आम के फल लगते हैं', यह सब बातें झूठी हैं, तो इससे वे झूठ नहीं हो जातीं।

इसी प्रकार भजन-दानादि साधनों (कर्मों) के स्वभाववैचित्र्य को न जानने के कारण ही उनसे क्या लाभ ? ऐसी शङ्का होती है। दानादि कर्म परिपक्व होकर **प्रायः जन्मान्तर** में ही फल देते हैं। यही कारण है कि जिन्होंने जन्म-जन्मान्तर में सत्संग-भजन-दानादि साधन किये हैं और वे परिपक्व होकर जिस जन्म में उदय होते हैं,

उस जन्म में सतसंग न करने पर भी वे विवेकी, काम-क्रोध-स्वार्थ-रहित, परोपकारी तथा आजीवन सुख-सम्पत्ति से युक्त रहते हैं। एवं जिन्होंने जन्मान्तर में सतसंग-भजन-दानादि नहीं किये, इस जन्म में करना प्रारंभ किया है, उन्हें उसका फल जन्मान्तर में साधन परिपक्व होने पर अवश्य मिलेगा। इस जन्म में जो वे दुःख-दारिद्रय से पीड़ित हैं वह तो उनके जन्मान्तर में किये अशुभ कर्मों का फल है। **इस रहस्य को जो जान लेते हैं वही साधक आजीवन नित्य नये संकट भोगते हुये तथा भजन-ध्यानादि का फल इस जीवन में न देखते हुये भी साधन करते रहते हैं। जो इस रहस्य को नहीं जानते उन्हीं के हृदय में यह शङ्का होती है कि सत्संगादि से क्या लाभ ?** एवं जो लोग इस जन्म में अशुभ कर्म करते हुए भी सुखी हैं, वह तो उनके जन्मान्तर में किये गये शुभकर्मों का फल है। इस जन्म में किये अशुभ कर्मों का फल दुःख तो जन्मान्तर में कर्म परिपक्व होने पर अवश्य ही भोगना पड़ेगा। **इस रहस्य को जो जानता है वही अति संकट, अति प्रलोभन, अति एकान्त में भी अशुभ कर्मों से बच सकेगा।**

यहाँ तक जन्मान्तर में फल देनेवाले साधनों पर विचार किया गया। अब इस जन्म में ही फल देनेवाले साधनों पर विचार किया जायेगा, कि वे कभी फल देते हैं, कभी नहीं देते, कभी विपरीत फल देते हैं, ऐसा क्यों होता है ?

इसी जन्म में या एक वर्ष, एक माह, एक दिन में ही फल प्राप्ति के लिए अर्थात् सुखप्राप्ति-दुःखनिवृत्ति, पुत्र-प्राप्ति, वर्षा होने, धन-प्राप्ति, रोगनिवृत्ति के लिए जिन दान, पुत्रेष्टियज्ञ, कारीरीयज्ञ, महामृत्युञ्जयमन्त्र-जप आदि साधनों का शास्त्र में विधान किया है। वे साधन जब भली-भाँति शास्त्रविधान के अनुसार किये जाते हैं तब फल देते हैं, शास्त्रविधि पालन में त्रुटि रहने पर फल नहीं देते, मनमानी करने पर विपरीत फल भी देते हैं।

सभी शास्त्रीय कर्मों में न्यायोपार्जित धन का होना, उसका पवित्र देश, काल, पात्र में श्रद्धापूर्वक शास्त्रविधि से उपयोग करना परम आवश्यक है। जप, स्तोत्रपाठ आदि में भी मन की एकाग्रता, शुद्ध उच्चारण, ब्रह्मचर्य-पालन, ऋषि, देवता, छन्द आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। वर्तमान में प्रायः इनका पालन न होने से ही साधन के अनुष्ठान फल प्रदान नहीं करते। शास्त्रीय अलौकिक साधन ही क्यों लौकिक साधन खेती, शिक्षा, चिकित्सा आदि भी विधिपूर्वक न करने पर फल नहीं देते। इसी दशा में लौकिक-अलौकिक साधनों के विधि-विधान का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर भली भाँति अनुष्ठान करना ही बुद्धिमान् मानव का काम है। इसके बिना सफलता न मिलने पर 'इनसे क्या लाभ ?' ऐसा सन्देह करना या कटाक्ष करना तो महाबुद्धिमान् महामानव का ही काम है।

शङ्का—कभी-कभी शास्त्रविधान का पूर्ण पालन करते हुये अनुष्ठान करने पर भी फल प्राप्त नहीं होता, इसका क्या कारण है ?

समाधान—जिस तीव्रतम प्रारब्ध का भोग के बिना नाश न होने का नियम भगवान् ने स्वयं बना दिया है, ऐसा तीव्रतम प्रारब्ध जब उदय होकर बाधा पहुँचाता है, तब शास्त्रविधिपूर्वक किये अनुष्ठान भी फल प्रदान नहीं करते। ऐसा तीव्रतम प्रारब्ध जब बाधक होता है, तब शास्त्र-कथित अलौकिक साधन ही नहीं, खेती, चिकित्सा आदि लौकिक साधन भी फल प्रदान नहीं करते। तो भी ऐसे अपवाद स्थलों को छोड़कर खेती, चिकित्सा से लाभ होने के कारण जैसे उनपर सन्देह या अविश्वास नहीं करते, वैसे ही शास्त्रीय साधनों पर भी सन्देह या अविश्वास नहीं करना चाहिए।

क्या ईश्वर की सर्वज्ञता पुरुषार्थ का बाधक है !

शङ्का—गीता में भगवान् ने कहा है कि—अर्जुन, मैं अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के सभी भूतों को जानता हूँ। किन्तु मुझे कोई नहीं जानता—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(गीता ७।२६)

यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि भगवान् भविष्य के भी जन्मों, कर्मों को जानते हैं कि यह प्राणी भविष्य में यह-यह कर्म करेगा और उनके फल भोगने के लिए अमुक-अमुक योनियों में जन्म लेगा, तो भगवान् का ज्ञान अमोघ होने से प्राणी को वैसे कर्म अवश्य करने ही पड़ेंगे। ऐसी दशा में प्राणी (जीव) उन अशुभ कर्मों को भी अवश्य ही परवश होकर करेगा जिनसे उसे भविष्य में सूकर कूकर बनना है। इसे स्वीकार कर लेने पर तो पुरुषार्थ के लिए कोई अवकाश न रहने से पुरुषार्थ प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ होंगे। इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता पुरुषार्थ की बाधक सिद्ध होगी।

इस दोष से बचने के लिए यदि ऐसा माना जाये कि ईश्वर भविष्य के जन्म-कर्म को नहीं जानता, केवल अतीत तथा वर्तमान के ही जन्म-कर्मों को जानता है तो गीता के वचन से विरोध होगा, क्योंकि स्पष्ट ही 'भविष्याणि' अर्थात् भविष्य के भी जानने की बात कही है। यदि कहा जाये कि ईश्वर द्वारा भविष्य के कर्म-जन्म जानने पर भी जीव अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा बदल सकता है तो यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर तो ईश्वर का ज्ञान अमोघ (सत्य) न होकर असत्य ही सिद्ध होगा। इससे तो ईश्वर की सर्वज्ञता ही सिद्ध न होगी, इतना ही नहीं किन्तु ईश्वर भ्रान्तिज्ञान

से युक्त है ऐसा भी सिद्ध होगा। अतः उपरोक्त दोष रहित ईश्वर की सर्वज्ञता बताने की कृपा करें।

समाधान—भूत-भविष्य-वर्तमान के अनन्त-अनन्त जड़ पदार्थों तथा अनन्त-अनन्त जीवों के तन-मन में होनेवाले अनन्त-अनन्त परिवर्तनों का भगवान् के मन में एक साथ स्फुरण या प्रत्यक्ष होते रहना, सर्वज्ञता नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर भगवान् अनन्त-शान्ति के सागर न हो कर अनन्त विक्षेप रूप अशान्ति के सागर ही सिद्ध होंगे। ऐसा मानना तो 'शान्ताकारं' आदि शास्त्रवचनों से विरुद्ध होगा। अतः ईश्वर की सर्वज्ञता का इतना ही अर्थ मानना चाहिए कि वे सभी प्राणियों के भूत-भविष्य-वर्तमान के कर्मों तथा जन्मों को जानने में समर्थ हैं।

इसीलिए सर्वज्ञ भगवान् शङ्कर ने भी सतीजी के चरित्र को भी ध्यान लगा कर ही जाना—

तब शंकर देखिउ धरि ध्याना।
सती जो कीन्हि चरित सब जाना॥

इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता प्रथम से जीवों के भावी जन्मों तथा कर्मों को विशेष रूप से जानकर जब रखती ही नहीं, तब वह पुरुषार्थ की बाधक होगी यह शंका ही नहीं हो सकती। हाँ किसी कारण विशेष से ईश्वर की तो बात ही क्या किसी सर्वज्ञ ऋषि ने भी यदि किसी जीव के भावी जन्म को ध्यान द्वारा विशेष रूप में प्रथम से ही जान लिया है तो उस जीव को उस जन्म को देनेवाले कर्म अवश्य ही करने पड़ेंगे, वहाँ जीव का पुरुषार्थ सफल न होगा, क्योंकि ईश्वर की ही नहीं ऋषि की भी सर्वज्ञता अमोघ होने से असत्य नहीं हो सकती। ऐसे अपवाद रूप कुछ विशेष स्थलों को छोड़ कर अन्यत्र सब स्थलों में पुरुषार्थ सार्थक होने से पुरुषार्थ प्रतिपादक शास्त्र भी सार्थक हैं व्यर्थ नहीं।

ध्यान लगा कर जानने पर भी ऋषि, देवता, ब्रह्मा आदि की सर्वज्ञता से ईश्वर की सर्वज्ञता में विशेषता यह कि ईश्वर अनन्त अनन्त ब्रह्माण्डों की बात को जान सकता है, किन्तु ब्रह्मादि अपने अधिकारानुसार त्रिलोकी या एक ब्रह्माण्ड की ही बात जान सकते हैं, अनन्त ब्रह्माण्डों की नहीं जान सकते।

शङ्का—यदि ज्योतिषशास्त्र को सत्य माना जाये तो उनके अनुसार बताये गये मनुष्य के स्वभाव कर्म, सुखदुःखभोग में परिवर्तन न हो सकेगा। ऐसी दशा में स्वभाव, कर्म आदि के सुधार के लिए किया गया पुरुषार्थ व्यर्थ होगा।

इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र भी पुरुषार्थ बाधक है क्या ?

समाधान—५० मील प्रतिघंटे चलनेवाली गाड़ी ५०० मील का मार्ग पार करके १० घंटेमें अमुक स्थल पर अवश्य ही पहुँच जायेगी, ऐसा निर्णय गणितशास्त्र के आधार पर दिया जाता है। यदि चढ़ाई-उतराई, वायु की सम्मुखता-विमुखता, गति की न्यूनता-अधिकता आदि साधक-बाधक उपस्थित न हों तो अवश्य ही उक्त निर्णय सत्य होता है। ज्योतिषशास्त्र भी गणितशास्त्र होने के कारण उसके द्वारा कथित स्वभाव, कर्म, सुखदुःख आदि तभी सत्य होते हैं जब उसके साधक-बाधक अनुष्ठान न किये जायें। यदि ऐसा न होता तो ज्योतिष-शास्त्र स्वयं बुरे स्वभाव, कर्म और दुःख से बचाव के अनुष्ठान का विधान न करता। विधान करने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि ज्योतिषशास्त्र पुरुषार्थ का बाधक नहीं है।

वर्तमान में ज्योतिषशास्त्र का सम्यक् ज्ञान रखनेवाले, हस्तरेखा-ज्ञान, मस्तिष्क रेखाज्ञान तथा आकृतिज्ञान से मिलान कर फल का बखान करनेवाले विद्वान् बहुत कम हैं। इसलिए सिद्धान्ततः गणित-शास्त्र की तरह ज्योतिषशास्त्र सत्य होने पर भी ज्योतिषियों के कथन प्रायः सत्य नहीं होते। अतः उन पर विशेष ध्यान न दे कर अपने सुधार का पूरा पुरुषार्थ करना ही चाहिए।

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भिन्न हैं या अभिन्न

शङ्का—कहीं शास्त्रों में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की एक दूसरे से उत्पत्ति बताई है, कहीं इन तीनों की भी किसी एक अन्य तत्त्व से उत्पत्ति बताई है, कहीं इन्हें भिन्न तो कहीं अभिन्न कहा है। कहीं भिन्न या अभिन्न मानने की निन्दा-प्रशंसा की है। कहीं विष्णु को ही मुक्तिदाता कहा है शिव को नहीं। कहीं शिव को भी मुक्तिदाता कहा है। देखिये—

(१) **अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुं महादेवस्य धीमतः।**
ब्रह्मविष्णुसुरेशानां स्रष्टा च प्रभुरेव च ॥
(अनुशासन पर्व १४।३-४)

योऽसृजद् दक्षिणादङ्गाद् ब्रह्माणं लोकसम्भवम्।
वामपार्श्वात्तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः ॥
(अनुशासन पर्व १४।३४७)

अर्थ—मैं महादेवजी के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हूँ, वे ब्रह्मा, विष्णु तथा सुरेश को उत्पन्न करनेवाले और उनके स्वामी हैं।

जिस ईश्वर (महादेव) ने अपने दक्षिण अङ्ग से लोक उत्पादक ब्रह्मा की रचना की है और वामपार्श्व से लोकरक्षक विष्णु की रचना की है।

(२) **यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।**
(भाग० २।६।२२)

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥
(भाग० २।६।३१)

भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः···कुमारो नीललोहितः।
(भाग० ३।१२।७)

अर्थ—मैं (ब्रह्मा) महात्मा (विष्णु) के नाभिकमल से उत्पन्न हुआ। उनसे नियुक्त हुआ मैं सृष्टि करता हूँ और उनके वश हुये हर (शंकर) संहार करते हैं। तीनों शक्तिधारण करनेवाले वे पुरुष (विष्णु) रूप से विश्व का पालन करते हैं। प्रजापति (ब्रह्मा) की भौहों के मध्य से नीललोहित कुमार (रुद्र) उत्पन्न हुये।

(३) **देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन।**
(भाग० ८।७।२१)

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।
(भाग० ८।७।२२)

गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो।
धत्से यदा स्वदृक् भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ॥
(भाग० ८।७।२३)

त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः।
(भाग० ८।७।२४)

अर्थ—हे देवों के देव! हे महादेव! हे भूतात्मन्! हे भूतभावन! आप ही एक सर्वजगत् के **बन्धनमोक्ष के ईश्वर अर्थात् दाता हैं।** हे स्वयंप्रकाश भूमन्! जब गुणमयी अपनी शक्ति द्वारा इस संसार की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करते हैं, तब हे प्रभु! **ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव नाम धारण करते हैं।** आप ही **परम गुह्य ब्रह्म हैं।** सद्-असद् भावों को भावित करनेवाले हैं।

(४) **'ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयते'।**

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा इन्द्र सभी आप से ही उत्पन्न होते हैं।

(५) त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।

(भाग० (४।७।५४)

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वेकं द्विधाकृतम् ।

(शान्तिपर्व ३४१।२७)

यो विष्णुः स तु वै रुद्रो यो रुद्रः स पितामहः ।

एका मूर्तिस्त्रयो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः ॥

(हरिवंश विष्णुपर्व १२५।३१)

अर्थ—तीनों में एकभाव को जो देखता है भेद नहीं ही देखता है। रुद्र और नारायण रूप से एक ही सत्त्व दो भावों को किया गया है। जो विष्णु हैं, वही रुद्र हैं, जो रुद्र हैं, वही पितामह ब्रह्मा हैं। रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा ये तीनों देवता एकमूर्ति ही हैं।

(६) विष्णुब्रह्मादिदेवानामैक्यं जानन्ति ये नराः ।

ते यान्ति नरकं घोरं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥

(गरुड पु० बृह० ख० ४।६)

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदेवतैः ।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाखण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥

(पद्म पु०)

अर्थ—विष्णु ब्रह्मा आदि देवों की एकता जो मनुष्य जानते हैं, वे पुनरावृत्ति रहित अर्थात् सदा के लिए नरक को प्राप्त होते हैं। जो ब्रह्मा, रुद्रादि देवताओं के साथ नारायण देव को भी समान देखता है वह निश्चय ही पाखण्डी होता है।

(७) मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः ।

मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ॥

(हरिवंश भविष्यपर्व ८०।३०)

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः ।

एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः ॥

(भाग० १०।५१।२०)

अर्थ—मुक्ति की प्रार्थना करनेवाले मुझसे शंकरजी ने कहा कि सभी को मुक्ति देनेवाले विष्णु ही हैं, इसमें संशय नहीं। मुझसे कैवल्य (मुक्ति) को छोड़कर वरदान माँग लो, एक भगवान् विष्णु ही उसके ईश्वर अर्थात् दाता हैं।

(८) त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः ।

(भाग० ८।७।२२)

अर्थ—आप (शिव) ही सर्वजगत् के बन्ध और मोक्ष के ईश्वर अर्थात् दाता हैं।

इन परस्पर विरुद्धशास्त्रवचनों के कारण यह शंका होती है कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भिन्न हैं या अभिन्न ? क्या इन तीनों की उत्पत्ति एक दूसरे से होती है या किसी अन्य परमतत्त्व से तीनों की उत्पत्ति होती है या परमतत्त्व इन तीन रूपों में प्रगट होता है ? मुक्तिदाता शिव हैं या विष्णु ? भिन्न या अभिन्न मानने की निन्दा क्यों की है ? इन शंकाओं का सम्यक् समाधान प्रदान कीजिए।

समाधान—कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार की शक्ति से युक्त परब्रह्म एक ही है। विष्णु को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन करनेवाले इतिहास-पुराण-प्रकरणों में उसी परब्रह्म को विष्णु शब्द से कहा गया है। उन्हीं पुराणादि में या अन्यत्र उन विष्णु से जो ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु की भी उत्पत्ति कहीं-कहीं कही गई है, वह केवल एक-एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक, संहारक तथा पालक हैं। इस प्रकार विष्णु भगवान् के दो रूप हैं १. कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करने की शक्तिवाले कारण रूप विष्णु भगवान्।

२. एक ब्रह्माण्ड की पालन-शक्ति से युक्त कार्यरूप विष्णु भगवान्। कारणरूप विष्णु से कार्यरूप विष्णु की उत्पत्ति का अर्थ भी पालन रूप एक शक्ति से युक्त विष्णु की अभिव्यक्ति बताने में ही है, उत्पत्ति बताने में नहीं। क्योंकि जीव जैसे कर्म के परवश होकर उत्पन्न होता है वैसे वह कार्यरूप विष्णु भी कर्मपरवश होकर उत्पन्न नहीं होते।

इसी प्रकार ब्रह्मा या शिव को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों में उसी सर्वकारण रूप परब्रह्म को ही ब्रह्मा या शिव शब्द से कहा है। उनसे जिन विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव की उत्पत्ति कही है, वे एक-एक ब्रह्माण्ड के पालक, उत्पादक एवं संहारक हैं। इनकी भी उनसे अभिव्यक्ति ही होती है उत्पत्ति नहीं।

तात्पर्य यह है कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करने की शक्ति से युक्त सर्वकारण परब्रह्म रूप से वर्णित ब्रह्मा-विष्णु-शिव तो एक ही तत्त्व हैं, सर्वथा अभिन्न ही हैं, भिन्न नहीं। इसी दृष्टि से अंक ५ में लिखे शास्त्रवचनों में इनकी एकता = अभिन्नता कही गई है। अतएव इन्हें अभिन्न जाननेवालों की प्रशंसा तथा भिन्न जानने वालों की निन्दा की जाती है।

अंक ४ में जिन ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की उत्पत्ति कही गई है वे एक एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक, पालक तथा नाशक हैं और जिससे इनकी उत्पत्ति होती है वह सर्वकारण रूप परब्रह्म तत्त्व है। एक-एक ब्रह्माण्ड के पालक कार्यरूप विष्णु आदि से कार्यरूप विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव की उत्पत्ति नहीं होती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंक १ तथा ३ में जिस शिव से ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति कही है, वे शिव कारण रूप परब्रह्म हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा आदि कार्यरूप हैं एवं अंक २ में जिस विष्णु से ब्रह्मा और शिव की उत्पत्ति कही है

वे विष्णु कारण रूप परब्रह्म हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा और शिव कार्यरूप हैं। इसी प्रकार तुलसीदासजी के रामजी कारण रूप परब्रह्म हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव कार्यरूप हैं—

जासु अंश ते उपजहिं नाना।
संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना॥

(१।१४३।६)

जासु अंश उपजहिं गुनखानी।
अगनित उमा रमा ब्रह्मानी॥

(१।१४७।३)

इन कार्यरूप ब्रह्मा तथा शिव की कारणरूप विष्णु या नारायण से एकता जाननेवालों की ही अंक ६ में निन्दा की है। निन्दा का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि कारण रूप की ही उपासना करनी चाहिए कार्यरूप की नहीं। पर की निन्दा स्व-स्व इष्ट में निष्ठा करने की दृष्टि से भी कर दी जाती है। ऐसे स्थलों में जिसकी निन्दा की गई है वह उपासनीय न होता हो, ऐसा वहाँ तात्पर्य नहीं होता, उसके भक्त के लिए तो वह उपासनीय ही होता है।

अंक ७ में जो विष्णु को ही मुक्तिदाता कहा है शिवादि को नहीं। उसका तात्पर्य भी कारणरूप विष्णु को मुक्तिदाता तथा कार्यरूप शिव को मुक्ति के अदाता बताने में समझना चाहिए, क्योंकि अंक ८ में कारणरूप शिव को स्पष्ट ही मुक्तिदाता बताया है। कार्य-रूप शिव भी जीव की तरह असमर्थ होने या कारणरूप शिव से सर्वथा भिन्न होने से मुक्ति न दे पाते हों, ऐसी बात नहीं है। किन्तु परशुरामादि की तरह केवल कार्य विशेष के लिये प्रकट होने के कारण वैसा कथन किया गया है अथवा यहाँ भी स्व इष्ट में

अर्थात् विष्णु-भक्त की विष्णु भगवान् में पूर्ण निष्ठा कराने के लिये ही विष्णु को ही मुक्तिदाता कहा है शिव को नहीं।

कुछ वैष्णवाचार्यों ने अंक २ तथा अंक ६ के आधार पर विष्णु को ही सर्वोत्कृष्ट और शिव को निकृष्ट सिद्ध करने का प्रयास किया है एवं कुछ शैवाचार्यों ने अंक १ तथा ३ के आधार पर शिव को ही सर्वोत्कृष्ट और विष्णु को निकृष्ट सिद्ध करने का प्रयास किया है। मेरी दृष्टि से उनका वह प्रयास भी स्व-स्व इष्ट में पूर्ण श्रद्धा के लिये ही है। क्योंकि अंक ५ में अति स्पष्ट शब्दों में तीनों को एक ही कहा है।

'विष्णु से ब्रह्मा तथा शिव की उत्पत्ति के वचन तो शास्त्रों में मिलते हैं, किन्तु शिव से विष्णु की उत्पत्ति बतानेवाला एक वचन भी शास्त्र में नहीं मिलता' ऐसा मानकर विष्णु को सर्वोत्कृष्ट बतानेवाले विद्वानों को अंक १ तथा ३ में शिव से विष्णु की उत्पत्ति कथन करनेवाले वचनों को ध्यान से पढ़ना चाहिये।

अतः मेरे विचारानुसार कारणरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव अभिन्न ही हैं।

हरिनाम पापनाशक है या व्रत-तपादि

शङ्का—मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में ब्रह्महत्या, मातृगमन, मद्यपान आदि महापापों के ही नहीं किन्तु गोहत्या, पशुगमन, मूत्रपान जैसे उपपातकों तथा क्षुद्रपापों के नाश के लिये भी अति-कष्टदायक कठिन चान्द्रायणादि व्रतों तथा निराहार व्रतों का विधान किया है। यदि हरिनाम लेने या गङ्गास्नान करने जैसे कष्टरहित, सुखद तथा सुगम साधन से भी ब्रह्महत्या आदि महापापों का भी विनाश होना स्वीकार किया जायेगा तो मनुस्मृति-कथित कष्टदायक

साधनों में किसी को प्रवृत्ति ही न होगी। ऐसी दशा में उनकी भो व्यर्थता होगी।

समाधान—इस शङ्का का समाधान विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है।

(१) मनुस्मृति में कथित साधन बहुत कष्टसाध्य होने से कामना-पूर्वक प्रगट रूप में किये गए ब्रह्महत्यादि महापापों के तथा गोहत्यादि उपपातकों के नाशक हैं। भगवन्नाम-जप, गङ्गास्नानादि कष्टरहित होने से अप्रकट रूप में किये गए मूत्रपान, मांस आदि अभक्ष्य भक्षण रूप क्षुद्रपापों के नाशक हैं। इस प्रकार दोनों की सार्थकता सिद्ध होने से किसी की भी व्यर्थता न होगी।

(२) अन्य विद्वानों का कहना है कि हरिनाम-जप से ब्रह्महत्या आदि महापापों का भी नाश होता है ऐसा पुराणों में स्पष्ट वर्णन है। अतः श्रद्धाभक्तियुक्त व्यक्ति के सभी पापों का नाश हरिनाम से ही हो जाता है। किन्तु जो श्रद्धाभक्तिरहित हैं, उनके पापों का नाश स्मृतियों में कथित प्रायश्चित्तों से होता है, अतः उनकी भी व्यर्थता नहीं होगी।

(३) अन्य विद्वानों का कहना है कि 'पाप करने के बाद जिन्हें अति पश्चात्ताप होता है, उन पुरुषों के लिए हरिनाम-स्मरण ही पाप-नाशक है' ऐसा विष्णुपुराण में कहा है—

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिस्मरणं परम्॥

(विष्णुपुराण २।६।३८)

अतः जिनके हृदय में अति पश्चाताप नहीं होता उनके लिए स्मृति कथित स्मार्त प्रायश्चित्तों की सार्थकता है।

(४) अन्य विद्वान् कहते हैं कि मरणकाल में स्मार्त प्रायश्चित्तों का अनुष्ठान संभव न होने के कारण म्रियमाण पुरुष के लिए हरिनाम ही सर्वविधपापों का नाशक है। जीवनकाल में स्मार्त प्रायश्चित्त ही पापनाशक होते हैं, अतः उनकी व्यर्थता नहीं होगी।

(५) अन्य विद्वानों का कहना है कि अजामिल के हृदय में अपने किये पापों के लिए जरा भी पश्चात्ताप नहीं था, हरिनाम के प्रति श्रद्धा-भक्ति भी नहीं थी, विष्णु भगवान् के दूतों द्वारा यमगणों से मुक्त किये जाने पर बहुत काल तक जीवन भी व्यतीत किया, तो भी पुत्र के नाम के बहाने से लिये गये 'नारायण' इस हरिनाम ने उसके समस्त पापों का नाश कर दिया। इसीलिए भागवत में उस प्रसङ्ग में कहा है कि 'संकेत, परिहास, गाने, बुलाने में भी लिया गया हरिनाम समस्त पापों का हरण करता है। अतः श्रद्धा आदि की शर्त लगाना ठीक नहीं।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

(भाग० ६।२।१४)

श्रद्धा-भक्तिसहित निरन्तर जो हरिनाम लेते हैं उनके हृदय से तो पापवासना का भी नाश हरिनाम से ही हो जाता है और अन्त-काल में हरिनाम उच्चारण न होने पर भी मुक्ति अवश्य हो जाती है।

मरणकाल में किसी भी प्रकार से एकबार भी लिया गया हरिनाम सब पापों का नाश करके मुक्ति भी वैसे ही प्रदान कर देता है, जैसे शास्त्रप्रमाण के आधार पर काशीमरण मुक्ति प्रदान करता है।

हरिनाम की ऐसी महिमा होने पर भी जिनके हृदय अत्यन्त दुर्वासना से युक्त हैं, उनकी सरल भगवन्नाम में वैसे ही श्रद्धा नहीं

होती, जैसे अतिधनियों की सरल चिकित्सा में श्रद्धा नहीं होती। अतः उनके लिए कठिन स्मार्त प्रायश्चित्तों की सार्थकता है।

(६) पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय, अनुकरणीय, सर्वदर्शनमर्मज्ञ, वेदान्तविशेषज्ञ, इतिहास-पुराण-भक्ति-धर्मशास्त्रसमन्वयमर्मज्ञ, ज्ञानभक्तिधर्मनिष्ठ करपात्रीजी महाराज का तो कहना है कि भगवन्नाम-ग्रहण से अलौकिक-भक्तिमुक्ति-प्रतिबन्धक पापों का नाश अवश्य हो जाता है। तथापि लौकिक व्यवहार शुद्धि के लिए स्मार्त प्रायश्चित्तों की सार्थकता है। यही कारण है कि हरिनाम को प्रधान माननेवाले अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थस्थानों के विद्वान् भी लौकिक व्यवहार की शुद्धि के लिए स्मार्त प्रायश्चित्तों के ही अनुष्ठान का विधान करते हैं।

एकान्त में किये गुप्तपापों में पुनः प्रवृत्ति न हो इसलिए उन गुप्तपापों की निवृत्ति के लिए भी लौकिक शुद्धि के सम्पादक स्मार्त प्रायश्चित्त किसी बहाने से हरिनामनिष्ठ को भी करना चाहिए। अन्यथा प्रबलदण्ड का भय न होने के कारण पुनः पापकर्मों में प्रवृत्ति हो जायेगी। ऐसी दशा में 'नाम के बल पर निषिद्धकर्मों में प्रवृत्ति होना' यह भगवन्नाम अपराध होगा जिससे हरिनाम की पापनाशक शक्ति कुण्ठित हो जाने से हरिनाम उच्चारण करने पर भी मुक्ति न होगी। इस प्रकार लौकिक-अलौकिक शुद्धि में उपयोगी होने से हरिनाम तथा स्मार्त व्रततपादि प्रायश्चित्त दोनों ही पापनाशक हैं, अतः दोनों की सार्थकता है किसी की भी व्यर्थता नहीं।

(इस भाववाले वचन पूज्यपाद करपात्रीजी ने 'विचार पीयूष' ग्रन्थ में पृष्ठ २३५ में कहे हैं।)

टिप्पणी—मद्य-मांस आदि अभक्ष्यभक्षण जन्य रस, रक्त, मांस, मेद आदि धातुओं की अशुद्धि की शुद्धि तो उसके अनुरूप पञ्चगव्य-पान, निराहाररूप व्रत-अनुष्ठान आदि स्मार्त प्रायश्चित्तों के बिना हो

ही नहीं सकती। क्योंकि हरिनाम केवल पापनाशक ही है धातुगत अशुद्धिनाशक नहीं। अतः स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ नहीं।

(सूचना—भगवन्नाम-जप के विषय में होनेवाली शंकाओं का विशेष समाधान मेरी 'साधनविचार' नाम की पुस्तक में 'भगवन्नाम-जप' लेख में देखें।)

प्रारब्ध विषयक शङ्का समाधान

शङ्का—संतों से सुना, सद्ग्रन्थों में पढ़ा कि अतिप्रबल प्रारब्ध-भोग भोगना ही पड़ता है, उसे कोई मिटा नहीं सकता। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'प्रारब्धभोग' से क्या लेना चाहिए मानसिक-हर्ष-शोक या इनके निमित्तरूप सम्पत्ति, विपत्ति, शारीरिक कष्ट या आराम।

समाधान—मानसिक हर्ष-शोकों को 'प्रारब्धभोग' शब्द से नहीं लिया जा सकता, क्योंकि प्रायः वे अविवेकजन्य होते हैं, इसलिए उन्हें मिटा सकते हैं। लोक में देखा जाता है कि एक प्रकार की सम्पत्ति, विपत्ति तथा शारीरिक कष्ट या आराम की प्राप्ति में वही व्यक्ति विवेककाल में हर्ष-शोक नहीं करता, अविवेककाल में ही करता है। इसीलिए गीता में कहा है—

'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति'

(१२।१७)

अतः हर्ष-शोक के निमित्तरूप सम्पत्ति, विपत्ति तथा शारीरिक कष्ट या आराम को ही 'प्रारब्धभोग' शब्द से लेना चाहिए।

शङ्का—यदि इनके प्राप्ति के हेतु भी निश्चित हों तो किसी ने डाका डाल कर सम्पत्ति प्राप्त की या किसी डाकू ने किसी को विपत्ति में डाल दिया या किसी ने स्वयं कुपथ्य सेवन द्वारा शारीरिक

कष्ट उत्पन्न कर लिया या किसी ने कुपथ्य सेवन करा के कष्ट उत्पन्न कर दिया। इन सभी को कुछ भी पाप नहीं होना चाहिए, क्योंकि इन लोगों का उनमें हेतु होना अटल प्रारब्ध द्वारा पहले से ही निश्चित था जिसे वे टाल ही नहीं सकते थे।

समाधान—सम्पत्ति, विपत्ति आदि की प्राप्ति के हेतु प्रायः निश्चित नहीं होते। इसलिए सम्पत्ति की प्राप्ति न्याययुक्त व्यापार आदि के द्वारा भी हो जाती एवं विपत्ति की प्राप्ति दुर्घटना द्वारा भी होजाती तथा कुपथ्य सेवन पदार्थ का ज्ञान न होने से भी हो जाता। अतः जिन लोगों ने **जानबूझकर** शास्त्रनिषिद्ध मार्ग को अपनाया है, उन्हें पाप अवश्य लगेगा। यही कारण है कि जिन्हें सम्पत्ति, विपत्ति, कष्ट या आराम प्राप्त होता है वह उनके अटल प्रारब्ध द्वारा ही प्राप्त होने पर भी उनकी प्राप्ति में **जानबूझ कर** जो लोग शास्त्रविरुद्ध मार्ग अपनाते हैं, उन्हें इस लोक में सरकार दण्ड देती है, परलोक में यमराज दण्ड देते हैं। ऐसा माने बिना तो न्याय-अन्याय नाम की कोई बात ही नहीं रह जायेगी। सभी कह देंगे हमारा क्या दोष है, इसी के अनिवार्य प्रारब्ध ने मुझसे करवाया है। परन्तु ऐसा हृदय से कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि जब उसके साथ कोई कष्टदायक व्यवहार करता है तब उसे वह भी अन्यायी ही कहता है।

यही कारण है कि पशु या पागल मनुष्य से विपत्ति या कष्ट की प्राप्ति होने पर उन्हें कोई अन्यायी नहीं कहता, उन्हें लोक-परलोक में दण्ड नहीं मिलता, क्योंकि उन्होंने बुद्धिपूर्वक वैसा काम नहीं किया।

शङ्का—व्यभिचार से उत्पन्न सन्तान जिन स्त्री-पुरुषों के संयोग से हुई है, वह सन्तान तो उनके शास्त्रनिषिद्ध संयोग के बिना शास्त्र विहित संयोग से हो ही नहीं सकती। तो क्या उन स्त्री-पुरुषों को पाप नहीं लगेगा ?

समाधान—उत्तम देश, काल, कुल तथा सदाचारी माता-पिता की प्राप्ति में जैसे पुत्र का प्रारब्ध हेतु होता है वैसे ही अधम देश, काल, कुल तथा व्यभिचारी माता-पिता की प्राप्ति में भी पुत्र का प्रारब्ध हेतु होता ही है। इस दृष्टि से देखा जाये तो व्यभिचार द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की शास्त्रनिषिद्ध प्रवृत्ति में पुत्र के प्रारब्ध की प्रेरणा को हेतु स्वीकार करना ही पड़ेगा। तो भी उन स्त्री-पुरुषों को पाप अवश्य ही लगता है, क्योंकि उन्होंने जानबूझकर शास्त्रनिषिद्ध कार्य किया है। ऐसा स्वीकार किये बिना लोक-परलोक में व्यभिचार करनेवाले को दण्ड न दिया जा सकेगा। सभी कह देंगे इस बालक के प्रारब्ध ने ही मुझे प्रेरित किया था, इसमें मेरा क्या दोष है। परन्तु ऐसे लोग भी अपनी बहन-बेटी से निषिद्ध सन्तान उत्पन्न करनेवालों को पापी मानते ही हैं।

शङ्का—अपने उत्पादक व्यभिचारी माता-पिता की सेवा वह पुत्र करे तो उसकी परलोक में सद्‌गति होगी या नहीं ?

समाधान—अवश्य होगी। क्योंकि 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' इन वेदवचनों द्वारा उत्पादक माता-पिता की ही सेवा का विधान किया गया है। उसमें सदाचारी होने की शर्त नहीं लगाई गई।

शङ्का—सम्पत्ति, विपत्ति, कष्ट या आराम की प्राप्ति अदृष्टकारण रूप केवल प्रारब्धमात्र से नहीं होती, उसमें अपनी या परायी शुभाशुभ क्रियारूप दृष्ट कारण भी हेतु अवश्य होता ही है। ऐसी दशा में यह प्रारब्ध भोग हो रहा है या नूतनकर्म किया जा रहा है, इसका विभाग कैसे जाना जायेगा।

समाधान—सर्वज्ञ भगवान् के अतिरिक्त और कोई इसका सम्यक् समाधान प्रदान नहीं कर सकता। तो भी सामान्यतः यह कहा जा समता है कि पशु-पक्षी, पागल मनुष्य तथा दीवाल गिरने

आदि से होनेवाली घटनाओं में प्रारब्धभोग हो रहा है, क्योंकि इनमें बुद्धिपूर्वक कोई हेतु नहीं बनता। किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक की गई अपनी या पराई चेष्टा हेतु होती है वहाँ नया कर्म भी बनता है।

शङ्का—यह विपत्ति या कष्ट मेरे ही प्रारब्ध का भोग है ऐसा मानकर क्या उसमें बुद्धिपूर्वक हेतु बननेवाले को दण्ड देने-दिलाने का प्रयास नहीं करना चाहिए ? दण्ड का प्रयास करने पर पाप होगा या पुण्य ?

समाधान—साधक दृष्टि से यदि उसे दण्ड देने-दिलाने का प्रयास न किया जाय तो सर्वोत्तम है, इसे ही शास्त्र में क्षमा नाम का सद्‌गुण कहा है। क्षमावान् को उत्तमलोकों की प्राप्ति होती है। लोक-व्यवहार की दृष्टि से आपत्ति या कष्ट में बुद्धिपूर्वक हेतु बनने-वाले को न्यायपूर्वक दण्ड देने या दिलाने से पाप नहीं होगा किन्तु अन्यायपूर्वक दण्ड देने-दिलाने से उस अन्याय से पाप अवश्य उत्पन्न होगा। राजा को तो न्यायपूर्वक अपराधी को दण्ड देने से पुण्य भी होगा। इसी प्रकार दूसरे को कष्ट देनेवाले व्यक्ति को अपने अधि-कारानुसार न्यायपूर्वक दण्ड देनेवाले साधारण व्यक्ति को भी पुण्य ही होगा। क्योंकि यह तो जनताजनार्दन की सेवा है। इसीसे दोनों की रक्षा होती है।

शङ्का—प्रारब्ध से ही यदि कष्ट होता है ऐसा माना जाये तो कुपथ्य सेवन से जो कष्ट होता है उसे प्रारब्धजन्य कैसे कहेंगे ?

समाधान—प्रारब्ध शब्द का अर्थ जन्मान्तर में ही किये गये कर्म का भोग मानकर यह शंका की गई है। वस्तुतः इस जन्म या जन्मान्तर के कर्म का परिपाक होकर फल प्रारम्भ कर देना ही प्रारब्ध शब्द का अर्थ होता है। इस परिभाषा के अनुसार कुपथ्य सेवन रूप कर्म का परिपक्व होकर कष्ट देना भी प्रारब्ध का ही भोग है ऐसा मानना ही चाहिए।

प्रभु के हितकर विधान में दुःख-क्षोभ क्यों ?

शङ्का—सन्तों के मुख से अनेकों बार सुना कि सर्वहितकारी होने से प्रभु का प्रत्येक विधान हितकर ही होता है। सुना ही नहीं, किन्तु ध्यान देने पर अनेकों बार प्रत्यक्ष अनुभव भी कर लिया कि अमुक घटना उस काल में अतिविकराल प्रतीत होती थी, वस्तुतः यदि वह घटना न घटी होती तो आज यह लाभ न हुआ होता। बाद में जब कुछ शास्त्रों का अध्ययन किया तो उनमें भी पढ़ने को मिला कि प्रभु का विधान हितकर ही होता है। देखिये—नारदजी ने कन्या से विवाह करने के लिए प्रभु से सुरूप मांगा था, किन्तु उन्हें जंजाल में फँसने से बचाने के लिए प्रभु ने सुरूप न देकर कुरूप ही दिया—

मुनि हित कारन कृपा निधाना।
दीन्हि कुरूप न जाइ बखाना।।

(१।१३२।७)

पत्नी सहित सब कुछ हरण कर सुग्रीव को पीट कर बालि ने निकाल दिया, परन्तु जब रामजी का दर्शन हुआ तो सुग्रीव ने उसे परम हितकर ही कहा—

बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।।

(४।६।१९)

रण में नागपाश के बन्धन में बंधे प्रभु को देखकर यद्यपि गरुड-जी को बड़ा भारी मोह हुआ था, किन्तु उसके कारण जब काग-भुशुण्डिजी से मिले, हरिकथा श्रवण करने को मिली, तब उस मोह (भ्रम) को हितकर माना।

सोइ भ्रम अब हितकरि मैं माना।
कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।।

(७।६८।२)

यही कारण है कि माता कुन्ती ने प्रभु से कहा कि 'हे जगद्-गुरु! मेरे ऊपर सदा विपत्ति आवे, क्योंकि उस विपत्ति में आपका दर्शन-स्मरण होता है, जो कि मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्।।

प्रभु ने अपने मुखारविन्द से कहा भी है कि 'जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन हरण कर लेता हूँ—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशोविधुनोम्यहम्।

(भाग० ८।२२।२४)

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।

(भाग० १०।८८।८)

जिस घटना के बाद कुछ भी हित प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं आता वहाँ भी हित तो होता ही है, क्योंकि दुःख भोगने से पाप का नाश तो होता ही है। दुःखदाता तो अपना कर्म ही है, दूसरा कोई नहीं दुःख देता, यही सिद्धान्त है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सबु भ्राता।।

(२।९१।४)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रेण ग्रथितो हि लोकः ।।
(अध्यात्म रा० २।६।६)

अर्थ—सुख-दुःख का दाता कोई नहीं, दूसरा देता है यह मानना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ, ऐसा झूठा अभिमान है, लोक अपने कर्म से ग्रथित हैं।

इस प्रकार सन्त तथा सद्ग्रन्थों के वचनों से और अनेकों बार अपने प्रत्यक्ष अनुभव से भगवान् के विधान में हित का साक्षात्कार कर लेने पर भी जब कभी छोटा सा भी कष्ट आ जाता है तो क्षोभ तथा दुःख हुये बिना रहता नहीं। उस कष्ट में निमित्त बने व्यक्तियों से द्वेष भी हुये बिना रहता नहीं ऐसा क्यों होता है ?

समाधान—जिस दवा ने अनेको बार बुखार उतार दिया, ऐसा स्वयं हितकर अनुभव कर लिया है। परन्तु वह दवा खाने में इतनी अधिक अरुचिकर है कि उसकी याद आते ही मुख की आकृति विकृत हो जाती है, रोम खड़े हो जाते हैं। उस दवा के खाने का पुनः अवसर आने पर मुख की आकृति विकृत होगी ही, रोम खड़े होंगे ही, पूर्व का हितकर अनुभव इसे रोक नहीं सकता, केवल दवा खाने की हिम्मत ही करा सकता है। जैसे यह परम सत्य है, वैसे ही कष्ट मनुष्य को सहज ही अप्रिय है। अतः अनेकों बार हित का अनुभव उस अप्रियता को मिटा नहीं सकता, इसलिए कष्ट आने पर क्षोभ या दुःख होता है। हित का अनुभव केवल उस कष्ट को सहन करने की हिम्मत ही प्रदान कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि जब कष्ट आता है तब उसका तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, किन्तु पूर्व अनुभव के आधार पर उस प्रत्यक्ष कष्ट में हित अनुमानित अर्थात् परोक्ष होता है। लोक-व्यवहार में प्रत्यक्ष

प्रबल होता है और परोक्ष निर्बल होता है। अतः प्रबल कष्ट का प्रत्यक्ष अनुभव निर्बल परोक्ष हित को दबाकर दुःख-क्षोभ पैदा कर देता है। यही कारण है कि इतिहास-पुराणों में वर्णित महापुरुषों के ऊपर जब प्रबल कष्ट आये तब कुछ काल के लिए प्रायः उन्हें भी दुःखित-क्षुभित कर दिया। कभी-कभी हित-अनुभव के संस्कार अति प्रबल रूप में जाग्रत होकर प्रत्यक्ष कष्ट की प्रबलता को भी दबा देते हैं, तब प्रत्यक्ष कष्ट में भी दुःख-क्षोभ नहीं होता।

तीसरी बात यह है कि सभी घटनाओं में दैव (प्राचीन कर्मरूप प्रारब्ध) और पुरुषार्थ (वर्तमान कर्म) ये दोनों ही हेतु होते हैं। केवल दैव या केवल कर्म से कार्य (घटना नहीं होती। ऐसा महाभारत मे कहा है—

नहि दैवेन सिध्यन्ति कर्माण्येकेन सत्तम ।
न चापि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धस्तु योगतः ।।

(सौप्तिक पर्व २।३)

ऐसी दशा में जब प्रारब्ध रूप कर्म पर दृष्टि रखकर बात कही, सुनी या मानी जाती है, तब क्षोभ-दुःख नहीं होता, किन्तु जब पुरुष के वर्तमान कर्म रूप पुरुषार्थ पर दृष्टि रखकर बात कही, सुनी या मानी जाती है, तब कष्टदायी घटना में जिस पुरुष का कर्म हेतु बनता है, उसके प्रति क्षोभ-द्वेष हो जाता है। लोक तथा शास्त्र में दैव और कर्म दोनों ही मान्य हैं, क्योंकि दोनों को माने बिना निर्वाह होता ही नहीं। इसीलिए दैव पर दृष्टि रखकर एक बार भारद्वाज जी कैकई को दोष रहित कहते हैं—

तात कैकइहि दोष नहिं गई गिरा मति धूति ।
(२।२०६)

परन्तु तुरन्त यह भी कहते हैं—

यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ ।
लोक बेद बुध संमत दोऊ ।।

(२।२०६।१)

इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी प्रारब्ध कर्म पर दृष्टि रखकर कहते हैं—

काहु त कोउ सुख दुख कर दाता ।
निज कृत कर्म भोग सबु भ्राता ।।

किन्तु जब बनवास के कष्टों में कैकई के पुरुषार्थ को हेतु मानते हैं, तब १४ वर्ष बाद भी क्षोभ का अनुभव करते हैं—

कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मनकर छोभु न जाय ।

(७।५)

एवं जो सुग्रीव बालि को परम हितैषी कहता है, वही सुग्रीव बालि के प्रहार को न सह सकने पर उस कष्ट में उसे प्रत्यक्ष हेतु मान कर उसे काल कहता है ।

बन्धु न होइ मोर यह काला ।

(४।७।४)

गरुड़जी भी भ्रम को हितकर कहकर भी जब उसमें अपने अज्ञान को हेतु मानते हैं, तब अपने को धिक्कारते हुए पछतावा करते हैं ।

पाछिल मोह समुझि पछताना ।
ब्रह्म अनादि मनुज कर जाना ।।

(७।९२।३)

सामान्य जीवों की तो बात ही क्या, धर्मराज के अंशावतार अजातशत्रु कहे जानेवाले राजा युधिष्ठिर के हृदय में जब यह संस्कार प्रबलरूप से जाग्रत होता है कि हमलोगों के महान् कष्ट में दुर्योधन का पुरुषार्थ हेतु है, तब वे स्वर्ग में भी अमर्ष (क्षोभ) से युक्त हो जाते हैं, और देवताओं से कहते हैं, मैं दुर्योधन को देखना नहीं चाहता—

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा दुर्योधनममर्षितः ।

(स्वर्गारोहणपर्व १।६)

अस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम् ।।

(स्वर्गा० पर्व १।१०)

इन सब महापुरुषों को भी क्षोभ-दुःख-द्वेष होने में एकमात्र कारण कष्ट में व्यक्ति का प्रत्यक्ष हेतु होना ही है । इसे मानना भी अनिवार्य है, नहीं तो लोकव्यवहार में कोई व्यक्ति अपराधी सिद्ध न होगा, तब उसे लोक या परलोक में भी कहीं भी दण्ड देना संभव न होगा । इतना ही नहीं किन्तु व्यक्ति का कोई कर्म सिद्ध न होने से कर्मपरिपाक रूप प्रारब्ध (दैव) भी सिद्ध न होगा । ऐसी दशा में 'दैव और पुरुषार्थ दोनों ही कार्यसिद्धि में हेतु होते हैं,' यह लोक, शास्त्र तथा अनुभव से भी सिद्ध सिद्धान्त ही नष्ट हो जायेगा ।

सारांश यह है कि कष्ट की सहज अप्रियता, प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रबलता तथा प्रत्यक्षरूप में व्यक्ति की निमित्तता इन तीन प्रबल हेतुओं से प्रभु के हितकर विधान में भी दुःख-क्षोभ हो जाता है ।

क्षमा का स्वरूप, उपाय, पात्र-अपात्र, लाभ-हानि

क्षमा का स्वरूप—किसी के द्वारा तन, मन, वचन, धन, जन आदि से अनुचित व्यवहार किये जाने पर भी उसे सह लेना तथा समर्थ होते हुये भी बदला लेने का सङ्कल्प भी न करना, यही क्षमा का स्वरूप है । सन्त ने कहा है—

दण्ड देन समरथ सदा युद्ध करन को वीर।
सुन कटु वचन गरीब के जो न डिगै सो धीर ॥

उपाय—अनुचित व्यवहार से मनुष्य को दुःख होता है, दुःख मनुष्य को सहज ही अप्रिय होने से असह्य होता है। अतः उसे किसी ठोस आधार के बिना सह लेना संभव नहीं। इसीलिए निन्दा आदि को सह लेने के लिए ठोस आधार उपस्थित करते हुये उसके लाभों का वर्णन करते हुये महाभारत में कहा है—

अरुष्यन् क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विन्दति ।
दुष्कृतं चात्मनोऽमर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै ॥

यदि वाग्भिः प्रयोगः स्यात् प्रयोगे पापकर्मणः ।
वागेवार्थो भवेत्तस्य न ह्येवार्थो जिघांसतः ॥

(शान्तिपर्व० ११४।३, ९)

अर्थ—जो निन्दा करनेवाले पर क्रोध नहीं करता, वह उसके पुण्य को प्राप्त कर लेता है। वह सहनशील पुरुष अपना सारा पाप क्रोधी पुरुष पर ही धो डालता है। यदि पापाचारी पुरुष के द्वारा कटुवचन बोलने पर बदले में वैसे ही वचनों का प्रयोग किया जाय तो उससे केवल कलहमात्र ही होगा। जो हिंसा करना चाहता है उसको गाली देने से कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा।

ऊपर लिखे अलौकिक लाभों में **सुदृढ़ भावना जाग्रत** रहने पर ही दुष्टों द्वारा पहुँचाई गई हानि, निन्दा तथा कष्ट सहन हो सकते हैं। अन्यथा हृदय से चाहने पर तथा हजार बार प्रतिज्ञा करने पर भी निन्दा आदि सहन करके क्षमा न कर सकेंगे।

क्षमा के अधिकारी

'ब्राह्मणानां बलं क्षमा'

अर्थात् ब्राह्मणों (सन्तों) का क्षमा ही बल है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथजी जब चन्द्रभागा में स्नान करके निकले तो एक दुष्ट ने उनके ऊपर थूक दिया। एकनाथजी ने उससे कुछ भी नहीं कहा, पुनः चन्द्रभागा में स्नान कर लिया। बाहर आनेपर फिर उसने थूक दिया, उन्होंने फिर स्नान कर लिया। इस प्रकार सौ बार दुष्ट ने थूका, सन्त ने सौ बार स्नान कर लिया, परन्तु उसे कुछ भी नहीं कहा। सन्त के इस महान् क्षमाबल से दुष्ट परास्त होकर उनके चरणों में गिर पड़ा। इसी प्रकार विश्वामित्रजी के समस्त अस्त्र-शस्त्र-बल को वसिष्ठजी ने अपने क्षमाबल से परास्त कर दिया था। तब विश्वामित्रजी ने कहा था कि क्षत्रियबल को धिक्कार है ब्रह्मतेज ही बल है—

'धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्'

(वा० रा० १।५६।२३)

ऐसा अनुभव करके ही विश्वामित्रजी ने ब्राह्मणत्व-प्राप्ति के लिए घोर तप किया था।

एकनाथजी तथा वसिष्ठजी जैसी सामर्थ्य सब में नहीं हो सकती, अतः असमर्थ पुरुष तो यदि वहाँ से हटकर या अन्य किसी प्रकार से अपनी रक्षा कर ले, दुष्ट से कुछ न कहे तो उसके लिए यही क्षमा कहलायेगी।

शत्रु ने अपने देश पर हमला कर दिया हो, देशवासियों के धन और धर्म का हरण कर रहा हो, देश का कुछ भाग कब्जे में कर लिया हो, उसे यदि राजा चुपचाप सहन कर ले, शत्रु से बदला न ले, तो

यह राजा के अधिकार के अनुरूप न होने से क्षमा नहीं कहलायेगी; किन्तु इसे तो कायरता ही कहा जायेगा—

रिपु पर कृपा परम कदराई।

हाँ, यदि शत्रु अस्त्र-शस्त्रहीन हो जाये, भागने लग जाये या शरणागत हो जाये, ऐसी दशा में समर्थ होते हुए भी उसे न मारना, अभयदान देना, यही राजा के लिए क्षमा कहलायेगी एवं जिन माता-पिता, पत्नी-बच्चों की रक्षा का भार जिस पर है, समर्थ होते हुये उनकी दुष्टों से रक्षा न करना, क्षमा नहीं किन्तु कायरता ही होगी। अतः कहाँ, किसे, किस प्रकार क्षमा करनी चाहिए यह भी ध्यान रखने की बात है।

क्षमा के पात्र-अपात्र

केवल अपने प्रति किये गये अन्याय को सह लेना अन्यायी को दण्ड देने दिलाने का सङ्कल्प भी न करना, ऐसी क्षमा का उद्देश्य जब केवल अपने हृदय की शान्तिमात्र होता है, तब क्षमा का कौन पात्र है कौन अपात्र है, इस बात पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जब किसी की रक्षा का उत्तरदायित्व या अन्यायी के सुधार का भार जिस पर होता है, तब उसको क्षमा का कौन पात्र है, कौन अपात्र है ? इस पर विचार करने की भी परम आवश्यकता होती है। नहीं तो रक्षणीय की रक्षा नहीं यो पाती तथा अन्यायी का सुधार भी नहीं हो पाता। इतना ही नहीं, किन्तु अन्यायी क्षमा करनेवाले को असमर्थ समझकर और अधिक अन्याय करता है, जिससे उसका सुधार न होकर बिगाड़ ही होता है। इसीलिए वाल्मीकि रामायण में कहा है—

प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता।
असामर्थ्यफला ह्येते निर्गुणेषु सतां गुणाः॥

(वा० रा० ६।२१।१४-१५)

अर्थ—क्षमा, शम, नम्रता तथा प्रियवादिता आदि सन्तों के गुणों का प्रयोग यदि गुणहीन (अभिमानी दुष्ट) पुरुषों के प्रति किया जाता है, तो वे दुष्ट सन्त को असमर्थ ही समझते हैं।

सदा क्षमा से हानि

इसीलिए 'जो नित्य क्षमा करता है, उसे बहुत दोष प्राप्त होते हैं। नौकर उसका तिरस्कार करते हैं और शत्रु उदासीन हो जाते हैं। कोई भी उसके सामने नहीं झुकता। इसलिए हे तात ! पण्डितों ने सदा क्षमा करना अच्छा नहीं माना'। ऐसा महाभारत के वनपर्व में कहा है—

यो नित्यं क्षमते तात ! बहून् दोषान् स विन्दति।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथाऽरयः॥
सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ति कदाचन।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात ! पण्डितैरपवादिता॥

(महाभा० वनपर्व २८।७-८)

सदा अक्षमा से हानि

एवं सदा क्षमा न करने से होनेवाली हानि का वर्णन भी महाभारत में इस प्रकार किया है—'रजोगुण से व्याप्त क्रोधी मनुष्य अपने तेज से अवसर-अनवसर का विचार न करके नाना प्रकार के

दण्ड देता है। उसका मित्रों के साथ विरोध हो जाता है तथा लोगों से और स्वजनयों से भी द्वेष हो जाता है। इसीलिए सदा अति क्रोध (अक्षमा) न करे तथा सदा अति मृदु (क्षमा) भी न बने। समयानुसार मृदु अथवा तीक्ष्ण होना चाहिए—

अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसाऽऽवृतः।
क्रुद्धो दण्डान् प्रणयति विविधान् स्वेन तेजसा॥
मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसाऽऽवृतः।
आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात् स्वजनतस्तथा॥
तस्मान्नात्युत्सृजेत् तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत्।
काले काले तु सम्प्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत्॥

(महाभा० वनपर्व २८।१७, १८, २३)

क्षमा तथा अक्षमा (क्रोध) के विषय में ऊपर लिखी संक्षिप्त बातों का विस्तार से विवेचन महाभारत के वनपर्व अध्याय २८ में तथा शान्तिपर्व के अध्याय ११४ में किया है। जिज्ञासु जन उन्हें अवश्य पढ़ें।

शास्त्रज्ञान-अनुभवज्ञान

शङ्का—कुछ महानुभावों का कहना है कि धर्म, ब्रह्म तथा नरक, स्वर्गादि अलौकिक तत्त्वों का ज्ञान लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से तथा वर्तमान के सर्वमान्य भौतिक विज्ञान से भी संभव नहीं है। अतः धर्मादि का ज्ञान तो अलौकिक, अनादि तथा अपौरुषेय वेदों तथा वेदानुसारी स्मृति-पुराणादि शास्त्रों से ही होता है। इसलिये जिसने वेदादि शास्त्रों का तात्पर्य निर्णायक उपक्रम, उपसंहार आदि षट्-

प्रमाणों द्वारा गुरुमुख से सम्यक् अध्ययन किया है, वह विद्वान् ही धर्म, ब्रह्मादि के विषय में जो ज्ञानोपदेश करता है, उसका ही ज्ञान सत्य हो सकता है। इसीलिए मनु महाराज ने अति स्पष्ट शब्दों में कहा है—जो वेदशास्त्र-अविरोधी तर्कों से आर्ष उपदेशों का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरे नहीं—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणाऽनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

(मनु० १२।१०६)

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रज्ञान ही सत्यज्ञान होने से शास्त्रज्ञानसम्पन्न विद्वान् ही कल्याण का भाजन होगा, केवल अनुभव ज्ञान का बखान करनेवाला न होगा। इस विषय में आप का क्या मत है?

समाधान—जिसने आयुर्वेद का सम्यक् अध्ययन, मनन और परिशीलन किया है, वही विद्वान् वैद्य रोगों का सम्यक्-निदान, औषध, पथ्य, कुपथ्य आदि का ठीक विधान तथा शङ्काओं का सम्यक् समाधान कर सकता है, दूसरा नहीं। जैसे यह एक परम सत्य है, वैसे ही वेदादिशास्त्रमात्रगम्य धर्म, ब्रह्मादि का ज्ञान, वेदादिशास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न विद्वान् ही प्रदान कर सकता है। वही धर्मादि के बारे में होनेवाली समस्त शङ्काओं का सम्यक् समाधान प्रदान कर सकता है, दूसरा नहीं। यही मेरा मत है। परन्तु कल्याण तो शास्त्रज्ञान के अनुसार धर्म, भक्ति और ज्ञान का अनुष्ठान (आचरण) करनेवाले का ही होता है, केवल शास्त्रज्ञान का बखान करनेवाले का नहीं होता। यही कारण है कि भागवत में अति-स्पष्ट शब्दों में कहा है—हे राजन्! बहुत शास्त्रों का ज्ञान रखनेवाले, संशयों का छेदन करने में समर्थ, सभापति बननेवाले बहुत से पण्डित असन्तोष के कारण

अधःपतन को प्राप्त होते हैं—

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः ।।

(भागवत० ७।१५।२१)

जैसे आयुर्वेद का सम्यक् ज्ञान रखनेवाला वैद्य भी यदि उसके अनुसार खान-पान, औषधिसेवन, पथ्यपालन आदि न करे तो वह रोगमुक्त नहीं हो सकता। वैसे ही यदि वेदादिशास्त्रज्ञानवान् भी उसके अनुसार अनुष्ठान न करे तो मुक्त नहीं हो सकता।

शङ्का—कुछ महापुरुषों का कहना है कि जिसे तत्त्व का अपरोक्षात्मक अनुभवज्ञान हुआ है या भगवान् का साक्षात् दर्शन हुआ है, वे ही शास्त्रवचनों का यथार्थ-अर्थ बतला सकते हैं, केवल विद्वत्ताबल पर शास्त्र का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इस विषय में आप का क्या मत है ?

समाधान—जैसे किसी औषधि से जिसने अपना ज्वर रोग दूर कर अपरोक्ष अनुभवज्ञान :रोगमुक्ति को प्राप्त कर लिया है। वह व्यक्ति भी सम्पूर्ण आयुर्वेद की बात तो दूर रहो, केवल ज्वरप्रकरण के सम्पूर्ण वचनों का भी ठीक अर्थ नहीं बता सकता तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों से पीड़ित लोगों को रोगमुक्त होने का उपाय भी नहीं बता सकता। वैसे ही जिसने किसी साधन द्वारा तत्त्व का अपरोक्षात्मक अनुभवज्ञान प्राप्त करके या भगवान् का साक्षात् दर्शन करके अपना कल्याण कर लिया है वह भी सम्पूर्ण शास्त्रों की बात तो दूर रही, एक गीता जैसे लघुशास्त्र के सम्पूर्ण वचनों का भी ठीक अर्थ नहीं बता सकता। सारांश यह है कि शास्त्रज्ञानवान् ही शास्त्रीय धर्मादि विषयक शङ्काओं का समाधान करके विभिन्न अधिकारियों को उनकी योग्यतानुसार साधन बता सकता है। परन्तु ज्ञान के

अनुसार अनुष्ठान न करने के कारण उसका अपना कल्याण न होगा। किसी साधन से अपरोक्षज्ञान प्राप्त करनेवाले का अपना कल्याण तो हो जायेगा। परन्तु विभिन्न-विरुद्ध शास्त्रवचनों का ठीक अर्थ बताने तथा विभिन्न साधकों को उनकी योग्यता के अनुसार साधन बताने में समर्थ न होगा। वैद्य के दृष्टान्त से यह दोनों बातें स्पष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार शास्त्रज्ञान और अनुभवज्ञान के फल में भेद है।

विधि-निषेध का तात्पर्य

शङ्का—सूतक काल में सूतकी का अन्न अशुद्ध होता है, घण्टे भर बाद सूतक समाप्त होते ही स्वयं शुद्ध कैसे हो जाता है ? सूतकी राजा सन्ध्या आदि कार्य नहीं कर सकता, किन्तु न्याय, युद्ध आदि कार्य कर सकता है, ऐसा क्यों कहा है ? अनापत्ति काल में स्व-उच्छिष्ट (जूठा) भोजन भी अपवित्र-अभोज्य है, किन्तु आपत्ति काल में पर उच्छिष्ट भी भोज्य कैसे हो जाता है ? इत्यादि विधि-निषेधों को बतानेवाले शास्त्रवचनों का क्या तात्पर्य है ?

समाधान—शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ।।
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ।
दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ।।

(भाग० ११।२१।३-४)

भावार्थ—वस्तुओं के समान होने पर भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ का जो विधान किया जाता है, उसका तात्पर्य यह है कि पदार्थ का ठीक-ठीक परीक्षण-निरीक्षण हो सके और उनमें सन्देह उत्पन्न करके कि यह योग्य है या अयोग्य, स्वाभाविक

प्रवृत्ति को नियन्त्रित या संकुचित किया जा सके। उनके द्वारा मनुष्य धर्मसम्पादन कर सके, समाज का व्यवहार ठीक-ठीक चला सके और अपने व्यक्तिगत जीवन के निर्वाह में भी सुविधा हो। इससे यह लाभ भी है कि मनुष्य अपनी वासनामूलक सहज प्रवृत्तियों द्वारा इनके जाल में न फंस कर शास्त्रानुसार अपने जीवन को नियन्त्रित और मन को वशीभूत कर लेता है। निष्पाप उद्धव ! इस आचार का मैंने ही मनु आदि का रूप धारण कर धर्म का भार ढोने-वालों के लिए उपदेश किया है।

भागवत के ऊपर लिखे चौथे श्लोक में विधि-निषेध के मुख्य तीन तात्पर्य बताये हैं,—(१) धमार्थ, (२) व्यवहारार्थ और (३) यात्रार्थ। इन्हीं तीनों को सुगम दृष्टान्तों के द्वारा समझाने का प्रयास यहाँ संक्षेप में किया जाता है।

धर्मार्थ — किस देश, काल में, किस पदार्थ, भाव द्वारा किस व्यक्ति के किये गये किस कर्म से पुण्य या पाप उत्पन्न होता है, इसका निर्णय शास्त्र-प्रमाण के बिना मानवबुद्धि किसी अन्य प्रमाण से नहीं कर सकती। इसका मुख्य कारण यह है कि जन्मान्तर का तथा प्रायः जन्मान्तर में ही भोगे जानेवाले पाप-पुण्यों का और इनके कार्य-कारणभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से हो ही नहीं सकता। इस बात को समझने के लिये कल्याण पत्रिका वर्ष ५७ अंक ५ में 'धर्म की आवश्यकता' नाम का लेख तथा 'वैदिकचर्या-विज्ञान' पुस्तक की भूमिका मनोयोग से विचारपूर्वक पढ़नी चाहिए।

जब कि धर्म-अधर्म का ज्ञान शास्त्रप्रमाण से ही होता है तब धर्मार्थं अर्थात् धर्मसम्पादन की दृष्टि से किये विधि-निषेध ज्ञान में अन्य किसी प्रमाण या भौतिक-विज्ञान से संगति या तात्पर्य जानने का प्रयास करना दुःसाहस करना ही कहा जायेगा। ऐसी दशा में शास्त्रप्रमाण सिद्ध होने से ही सूतकी का अन्न अशुद्ध होता है तथा

१ घंटे में ही नहीं किन्तु १ मिनट बाद हो सूतक समाप्त होते ही स्वयं शुद्ध हो जाता है, यह मानना ही होगा।

शास्त्रप्रमाणसिद्ध होने के कारण ही जलतत्त्व समान होने पर भी गंगाजल पाप-नाशक और पुण्योत्पादक है और कर्मनाशा नदी का जल पापोत्पादक तथा पुण्यनाशक है। भूमितत्त्व समान होनेपर भी प्रयाग, काशी आदि तीर्थ पवित्र और कीकट, मगध आदि देश अपवित्र हैं। कालतत्त्व समान होने पर भी उत्तरायण आदि शुभ और दक्षिणायन आदि अशुभ होते हैं। मलमूत्रता समान होने पर भी गोबर-गोमूत्र पवित्र और मानव मलमूत्र अपवित्र हैं। संभोगसुख की भावना समान होने पर भी स्वपत्नीगमन पाप अजनक किन्तु मातृगमन-पुत्री-गमन महापाप जनक होते हैं। वधक्रिया समान होने पर भी शत्रु-सेना को, डाकुओं को मारने में दोष नहीं होता, अन्य किसी एक व्यक्ति को मार डालने में भी दोष होता है। इन सब में शास्त्रविधान ही मुख्य हेतु होता है।

गंभीरता से विचार कर देखा जाय तो अपराध-अनपराध में विधान ही मुख्य कारण होता है, भौतिक विज्ञान आदि नहीं। यही कारण है कि भौतिक विज्ञान को परम प्रमाण माननेवाले तथा विकसित कहे जानेवाले देशों में भी पिता-पुत्री तथा माता-पुत्र द्वारा सम्मतिपूर्वक किये गये मैथुन को समान सुख प्रदान करने-वाला होने पर भी विधानविरुद्ध होने के कारण ही अपराध माना जाता है। भारतवर्ष में भी सम्मतिपूर्वक अविवाहित नर-नारी के मैथुन को अपराध माना जाता है। यदि वही दोनों विवाह करके मैथुन करते हैं तो अपराध नहीं माना जाता। इसमें विधान के अतिरिक्त अन्य भौतिक विज्ञान कारण नहीं होता।

अतः जो लोग शास्त्रविधान का नाम लेते ही भौतिक विज्ञान के अभिमान वश कहते हैं कि हम अन्धविश्वासी नहीं जो शास्त्रविधान

मान लें। वही लोग ऐसे स्थलों में राजविधान का मौन होकर सम्मान भी करते हैं। इसी प्रकार जो लोग 'राजकीय हत्या, हत्या नहीं' ऐसा कहकर मनुष्य की हत्या को भी बुरा नहीं मानते, वही लोग यज्ञ में की गई शास्त्रीय पशु-हिंसा को भी बुरा बताते हैं और 'शास्त्रीयहिंसा हिंसा न भवति' (होती)। इस शास्त्र-विधान की हँसी उड़ाते हैं। ऐसे लोगों को विचारशील कैसे कहा जा सकता है।

व्यवहारार्थ—जिस प्रकार लोक-व्यवहार बाधारहित हो सके इस बात का ध्यान रखकर कुछ विधि और निषेध शास्त्र में कहे गये हैं। जैसे यज्ञ या विवाह कार्य सम्पन्न हो रहा हो उस काल में यदि यजमान, पुरोहित या वर-वधू के घर सूतक-पातक होने पर भी यज्ञ, विवाह आदि कार्य करने में दोष नहीं माना जाता। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि ऐसे अवसर पर भी सूतक को दोष माना जाय तो बहु धन-जन-सामग्री-योजनासाध्य यज्ञ-विवाहादि कार्य न हो सकने से लोकव्यवहार में बाधा होगी। राजा यदि सूतक का समाचार सुनकर न्याय या युद्ध को बीच में ही बन्द कर दे तो प्रजा को महान् संकट का सामना करना पड़े। गरीब व्यक्ति के विवाह में तैयार भोजन-भण्डार में श्वान (कुत्ता) आदि के प्रवेश या उच्छिष्ट (जूँठा) कर देने पर भी उसे अशुद्ध नहीं माना। इसका कारण यही है कि उस गरीब द्वारा उतना धन-जन-सम्पादन करके तत्काल भोजन बनवाना संभव न होने से विवाहरूप लोक व्यवहार में महान् बाधा होगी।

यात्रार्थ—जिस प्रकार जीवन-यात्रा का निर्वाह हो सके, इस दृष्टि से भी कुछ विधि-निषेध शास्त्र में कहे हैं। जैसे असत्य बोलना, हिंसा करना अधर्म है, तो भी डाकू से अपने जीवन की, तन-धन की रक्षा के लिए असत्य बोलना या उसकी हिंसा कर देना अधर्म नहीं माना गया। मल-मूत्र के परमाणु से युक्त मक्खियों के स्पर्श से

भोजन को अपवित्र नहीं माना। मार्ग की अशुद्ध धूल वायु द्वारा उड़ कर शरीर पर पड़े तो शरीर को अशुद्ध नहीं माना। पूजन-भोजन करते समय अपानवायु की दुर्गन्ध से पूजन-भोजन की सामग्री को अशुद्ध नहीं माना। भूख से मरते हुये व्यक्ति के लिए अभक्ष्य पदार्थ को भी भक्ष्य माना। इन सब का एकमात्र कारण जीवन-यात्रा-निर्वाह ही है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जितने के बिना जीवन-यात्रा का निर्वाह न हो सकता हो उतने के लिए ही दोष नहीं माना गया। यही कारण है कि उषस्ति नाम के ब्राह्मण ने प्राण-रक्षा के लिए महावत के जूँठे उड़द तो खा लिए, किन्तु जूँठा पानी नहीं पिया। महावत के पूछने पर यही बताया कि जूँठे उड़द न खाने पर तो मेरे प्राण जा सकते थे, किन्तु शुद्ध पानी तो मुझे नदी-झरने से मिल सकता है, अतः तुम्हारा जूँठा पानी पीने से मुझे दोष होगा। यह कथा छान्दोग्य-उपनिषद् में आती है।

इस प्रकार धर्मार्थ-व्यवहारार्थ-यात्रार्थ की दृष्टि से किये गये विधि-निषेध के तात्पर्य पर जो विचार संक्षेप में दिखाया गया है उसके आधार पर विचारवान् स्वयं ही अन्य सभी विधि-निषेधों के तात्पर्य को समझ लेंगे और दूसरों को भी समझाने में समर्थ हो जायेंगे।

भागवत-श्रवण से मुक्ति

शङ्का—मैंने, मेरे मित्रों ने तथा मेरी अनेक सुपरिचित माताओं, बहनों और भाइयों ने एक बार नहीं, किन्तु अनेक बार भागवत सुनी तथा पढ़ी भी है। मुझे भगवत्प्राप्ति आदि की बात तो दूर रही, दोषों का विनाश तथा गुणों का विकास भी पूर्णरूप से नहीं हुआ, इसमें क्या कारण है? क्योंकि भागवत-माहात्म्य में तो

लिखा है कि भागवत सप्ताह के श्रवण से मुक्ति, भगवान् की प्राप्ति, हृदय-ग्रन्थि का छेदन, सर्वसंशयों का भेदन तथा कर्मों का क्षय हो जाता है। देखिये—

श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु ।

(भाग० माहा० ५।४१)

सप्ताहश्रवणाल्लोके प्राप्यते निकटे हरिः ।

(भाग० माहा० (५।६२)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि सप्ताहश्रवणे कृते ।।

(भाग० माहा० ५।६५)

समाधान—भागवत सप्ताह समाप्त होने पर जब केवल धुन्धकारी के लिए ही विमान आया, तब गोकर्णजी ने भगवान् के पार्षदों से पूछा कि इन सभी श्रोताओं के लिए विमान क्यों नहीं लाये, तब उन्होंने जो उत्तर उसी भागवत माहात्म्य के उसी पाँचवें अध्याय में दिया है, उसी में आपकी शङ्का का सम्यक् समाधान विद्यमान होने से उसका ही उल्लेख किया जा रहा है—

हरिदासा ऊचुः

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः ।
श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम् ।।

(भागवत-माहा० ५।७१)

सप्तरात्रमुपोष्यैव प्रेतेन श्रवणं कृतम् ।
मननादि तथा तेन स्थिरचित्ते कृतं भृशम् ।।

(भागवत-माहा० ५।७२)

अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ।
सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः ।।

(भाग० माहा० ५।७३)

अवैष्णवो हतो देशो हतं श्राद्धमपात्रकम् ।
हतमश्रोत्रिये दानमनाचारं हतं कुलम् ।।

(भाग० माहा० ५।७४)

विश्वासो गुरुवाक्येषु स्वस्मिन् दीनत्वभावना ।
मनोदोषजयश्चैव कथायां निश्चला मतिः ।।

(भाग० माहा० ५।७५)

एवमादिकृतं चेत् स्यात्तदा वै श्रवणे फलम् ।

(भाग० माहा० ५।७६)

अर्थ—हरिदासों ने कहा—श्रवण के भेद से फल में भेद यहाँ हुआ है। श्रवण तो सबने किया है, परन्तु वैसा मनन नहीं किया ।। ७१ ।। सात रात उपवास करके धुन्धकारी ने श्रवण किया है तथा स्थिर चित्त से खूब मनन भी किया है ।। ७२ ।। अदृढ़ ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा चञ्चल चित्त से किया जप नष्ट हो जाता है ।। ७३ ।। वैष्णवरहित देश नष्ट हो जाता है, अपात्र (गुणयुक्त ब्राह्मण न होने) पर श्राद्ध नष्ट हो जाता है तथा अश्रोत्रिय को दिया दान नष्ट हो जाता है और दुराचार से युक्त कुल नष्ट हो जाता ।। ७४ ।। गुरुवचनों में विश्वास, अपने में दीनता की भावना, मन के दोष चञ्चलता आदि को जीतना तथा कथा में निश्चलमति होना ।। ७५ ।। इस प्रकार यदि श्रवण किया जाय तो निश्चय ही श्रवण का (शास्त्र में कहा मुक्ति आदि सम्पूर्ण) फल मिलता है ।। ७६ ।।

(यहाँ ज्ञान-दान आदि के नष्ट होने का अर्थ पूरा फल न मिलना ही समझना चाहिए ।)

हरिदासों के दिये इस उत्तर को ध्यान से पढ़ो। विशेष करके जिन वाक्यों में मोटे टाइप लगे हैं, उन ७२-७५-७६ श्लोकों पर गम्भीर विचार करो। तब आप को यह स्वयं समझ में आ जायेगा कि केवल श्रवणमात्र से मुक्ति आदि कथित फल की प्राप्ति नहीं होती। उसके लिए तो श्रद्धापूर्वक श्रवण, स्थिरचित्त में मनन, अभिमान का अभाव, उपवास, निश्चलमति आदि की भी परमावश्यकता होती है। इनके न होने से आप को मुक्ति आदि शास्त्रकथित फल की प्राप्ति नहीं हुई। यही आप की शङ्का का सम्यक् समाधान है, जो वहीं विद्यमान है।

ऊपर लिखे समाधान का कथन संक्षेप में ही वहीं आधे श्लोक में कहा है—

तच्छृण्वन् प्रपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ।
(६।८३)

अर्थ—विचारपरायण मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रवण और पठन करता हुआ मुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य पुराणादि शास्त्रों में जहाँ-जहाँ पूरे ग्रन्थ, एक अध्याय, एक श्लोक, एक तीर्थ या एक व्रत की कथा के श्रवण का जो फल बताया है, वहाँ भी पूरा फल तो श्रद्धा-भक्तिसहित नियम-पालनपूर्वक अनुष्ठान करने पर ही मिलता है। ऐसा समाधान स्वयं सर्वत्र कर लेना चाहिए। कहीं-कहीं जो केवल श्रवणमात्र से ही फल-प्राप्ति का कथन किया है, उसका तात्पर्य तो इतनेमात्र में है कि श्रवणमात्र से भी संस्कार का आधान हो जायेगा, जो आगे सहयोगी सामग्री मिलने पर अनुष्ठान करा देगा, तब फल प्राप्त हो जायेगा।

शङ्का—पुराणों की कथायें, सत्य घटनायें तो हैं नहीं, वे तो केवल कवि की मिथ्या कल्पनायें ही हैं। ऐसा जो मानते हैं, उन्हें उन मिथ्या कल्पनाओं से अनुष्ठान की प्रेरणा भी नहीं मिल सकती, अनुष्ठान करना तो दूर रहा।

समाधान—यद्यपि पुराणों की कथायें, सत्य घटनायें ही हैं, तथापि यदि उनलोगों की धारणा के अनुसार मिथ्या कल्पनायें ही मान लें, तो भी उनसे प्रेरणा ही नहीं, किन्तु अनुष्ठान में भी मनुष्य लग सकता है। देखिये—उपन्यासों, रेडियो, ट्रान्जिष्टरों, सिनेमाओं, टेलीविजनों में देखी-सुनी-पढ़ी कथायें मिथ्या कल्पनायें ही हैं, ऐसा जो निश्चितरूप से जानते हैं, उनको भी उनसे ऐसी प्रबल प्रेरणा मिलती है कि वर्तमान में सभी देशों के नर-नारी उत्थान-पतनकारक कार्यों के अनुष्ठान में संलग्न हो रहे हैं। ऐसी दशा में जो लोग पुराणों की कथाओं को सत्य घटनायें ही मानते हैं, उन्हें उनके पठन-श्रवण से अनुष्ठान की प्रेरणा मिलेगी, इसमें तो सन्देह ही नहीं हो सकता।

बड़े भाग्य मानुस तन पावा

शङ्का—रामचरित्रमानस में मनुष्य शरीर की बहुत प्रशंसा की गई है—

बड़े भाग्य मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा॥
नर समान नहि कवनिउ देही।
जीव चराचर जाँचत जेही॥
कबहुँक कर करुणा नर देही।
देत ईस बिन हेतु सनेही॥

यहाँ यह शङ्का होती है कि मनुष्य के बालक को चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, तैरना, खाद्य-अखाद्य का ज्ञान, शत्रु-मित्र की पहिचान आदि जीवनयापन के लिये अति आवश्यक कार्यों का भी ज्ञान बिना सिखाये नहीं होता। किन्तु पशु-पक्षी आदि अन्य सभी शरीरों में इनका ज्ञान बिना सिखाये ही हो जाता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो मनुष्य-शरीर की उपरोक्त प्रशंसा ठीक प्रतीत नहीं होती। अतः शास्त्रों में किस दृष्टि से प्रशंसा की गई है यह बताने की कृपा करें।

समाधान—लौकिक दृष्टि से इस शंका का समाधान तो यह है कि अन्य शरीरों की अपेक्षा मनुष्य शरीर में जीव को ऐसी बुद्धि की प्राप्ति होती है जिससे यह लघुकाय होने पर भी विशालकाय हाथी आदि को भी अपने वश में कर लेता है। अपनी क्षुधा-पिपासा, सरदी-गरमी, रोग आदि के निवारण के लिए अन्न, जल, गृह, औषधि आदि का सम्पादन कर लेता है। इस बुद्धि के ही ये सब चमत्कार हैं जिससे मानव ने महान् जलयान, वायुयान ट्रान्जिष्टर, रेलगाड़ी, टेपरिकार्ड, विशालकाय पुल, बाँध, कारखानों का निर्माण किया है। इतना ही नहीं किन्तु चन्द्रमा तक गमन करने में सफल हुआ है।

अलौकिक दृष्टि से उक्त शङ्का का मुख्य समाधान यह है कि मानव-शरीर में ही ऐसी बुद्धि मिलती है जिससे शास्त्रानुसार स्वयोग्यता के अनुरूप साधन का अनुष्ठान कर मानव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसीलिए कहा है—

साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाय न जिन्ह परलोक सुधारा॥
स्वर्ग नरक अपवर्ग निसेनी।
नर समान नहि कवनिउ जोनी॥

भाव यह है कि ज्ञानप्रधान मानव ज्ञानयोग द्वारा, भावप्रधान भक्तियोग द्वारा तथा क्रियाप्रधान कर्मयोग द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अन्य शरीरों से मोक्ष प्राप्त न हो सकने के कारण ही मानवशरीर की महती प्रशंसा की गई है।

शङ्का—कुछ मानव तो तन-धनक्षीण, बुद्धिहीन, विक्षिप्त मन, उन्माद, अपस्मार (मिर्गी) आदि असाध्य रोगों से ग्रस्त, अन्धे, बहरे, लूले, लंगड़े होने के कारण ज्ञान, ध्यान आदि अलौकिक साधन का अनुष्ठान कर ही नहीं सकते। इतना नहीं, किन्तु लौकिक दृष्टि से सुखमय नहीं, किन्तु अति दुःखमय नारकीय जीवन यापन कर रहे हैं। ऐसे लोगों के लिए मानव-शरीर की प्रशंसा सर्वथा व्यर्थ है।

समाधान—प्रशंसा, निन्दा, नियम आदि सब अधिकांश स्थलों को लक्ष्य कर किये जाते हैं। अतः कुछ स्थलों में उनका अपवाद होने पर भी व्यर्थ नहीं कहा जाता।

शङ्का—यदि जीव के बड़े भाग्यानुसार ही मानव-शरीर मिलता है तो—

कबहुँक कर करुणा नरदेही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसा क्यों कहा? यदि ईश्वर करुणा करके बिना हेतु के ही मानव-शरीर देता है तो सब जीवों को मानवशरीर इसी समय क्यों नहीं दिया? जिन्हें दिया है उनमें भी किसी को अधिक ज्ञान-ध्यान की योग्यता, धन-धान्य-मकान की सम्पन्नता से युक्त क्यों किया? क्या इससे ईश्वर में विषमता का दोष नहीं आता? इस विषमता दोष से बचने के लिए यदि जीवों के कर्मों को विषमता का हेतु माना जाये तो 'ईश्वर बिना हेतु के करुणा करके मानवशरीर देता है' इस कथन के साथ विरोध होगा। इन शङ्काओं का क्या समाधान है?

समाधान—सभी जीवों को इसी समय मानव शरीर न देने में तथा ज्ञान-ध्यान की योग्यता की न्यूनता, अधिकता आदि में भी जीवों के कर्म ही हेतु हैं। अतः ईश्वर में विषमता दोष का लेश भी नहीं है। पशु-पक्षी-शरीर प्राप्ति के योग्य असंख्य कर्मों के रहते हुए भी बीच-बीच में उद्धार के लिए मानवशरीर देने का नियम बनाना ही ईश्वर की अहेतुकी करुणा है। अतः 'मानव-शरीर ईश्वर बिना हेतु के करुणा करके देता है' यह कथन भी ठीक ही है।

शङ्का—बीच-बीच के जिस काल में मानवतन प्रदान का विधान भगवान् ने करुणा करके बनाया है वह काल कब आता है ?

समाधान—श्रीशङ्कराचार्यजी ने अपने बृहदारण्यक-भाष्य ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्बन्ध भाष्य में कहा है कि 'धर्म-अधर्म समान मात्रा होने पर मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है—**'साम्ये च धर्माधर्मयोः मनुष्यत्वप्राप्तिः'**।

शङ्का—यदि धर्माधर्म समान मात्रा में होने पर मनुष्यतन की प्राप्ति होती है तो सभी मानवों को समान मात्रा में ही सुख-दुःख प्राप्त होना चाहिए।

समाधान—धर्म-अधर्म समान मात्रा में होने पर भी उनके परिपाक में विषमता होने के कारण सुख-दुःख समान मात्रा में नहीं होते। तात्पर्य यह है कि जिन जीवों के अधिक शुभ कर्मों का परिपाक हो गया उन्हें अधिक सुख होगा एवं जिन जीवों के अधिक अशुभ कर्मों का परिपाक हो गया उन्हें दुःख अधिक होगा।

शङ्का—किस जीव के किन कर्मों का परिपाक किस काल में शीघ्र या विलम्ब से होता है, इस विषय में क्या नियम हैं ?

समाधान—इस शङ्का का सम्यक् समाधान सर्वज्ञ भगवान् के सिवाय और कोई भी प्रदान नहीं कर सकता, क्योंकि कर्मों को गति अति गहन है 'गहना हि कर्मणः गतिः' (गीता ४।१७)। तथापि सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि अति उत्कृष्ट शुभ-अशुभ कर्मों का शीघ्र परिपाक होता है तथा अन्य कर्मों का उनकी तारतम्यता के अनुसार मन्द और मध्यम गति से बिलम्ब में परिपाक होता है। जो शुभ-अशुभ कर्म प्रयागादि पवित्र तीर्थों में, पूर्णिमा आदि पुण्यकालों में, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ भगवद्भक्त आदि दिव्य गुणों से युक्त ब्राह्मण के प्रति किये जाते हैं, वे शुभ-अशुभ कर्म उत्कृष्ट होते हैं एवं ब्राह्मण-हत्या, मातृगमन आदि महापाप तथा ब्राह्मणरक्षा, मातृसेवा आदि महापुण्य उत्पादक कर्म स्वरूप से ही उत्कृष्ट (बड़े) होते हैं।

बिना किये पाप-पुण्य की प्राप्ति

शङ्का—'तत्कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र हि'

(शान्तिपर्व १५३।४१)

'नान्यस्तदश्नाति…स एव कर्त्ता'

(उद्योगपर्व १२३।२२)

'शास्त्रफलं तु कर्तरि'

(जैमिनिसूत्र)

अर्थ—उसको कर्ता ही भोगता है, इसमें बन्धुओं को क्या है। अन्य कोई नहीं भोगता कर्ता ही भोगता है। शास्त्रकथित फल कर्ता को ही होता है।

इन शास्त्र वचनों के आधार पर लोक में भी प्रसिद्ध है कि—'जो करेगा सो भरेगा' ऐसा मानना ही न्याययुक्त भी है। अतः बिना किये पापपुण्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—माता-पिता, गुरु, राजा तथा राजकीय गुप्तचर आदि के ऊपर पुत्र-पुत्री, शिष्य, प्रजा आदि के सुधार का उत्तर-दायित्व होता है। ये लोग यदि पुत्रादि के दोषों को न देखें, सुनें, पुत्रादि से न कहें, समझाकर, भय दिखाकर, दण्ड दे कर उन्हें शुभ मार्ग पर लाने का प्रयास न करें तो इन्हें कर्त्तव्यपालन न करने का दोष होता है। इनके अतिरिक्त जिन लोगों पर सुधार की कोई भी जिम्मेदारी नहीं है, वे लोग यदि किसी के सुने या आँखों से देखे पापों को कहते सुनते हैं तो उन पापों को न करने पर भी उनको पाप की प्राप्ति होती है। ऐसा भागवत में कहा है—

यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद् भवेत्
(१।१७।२२)

अर्थ—अधर्म करनेवाले को जो स्थान प्राप्त होता है वही स्थान सूचक को भी प्राप्त होता है। तुलसीदासजी ने भी भरतजी के मुख से कहा है कि—बेचहिं वेद धर्म दुहि लेहीं। **पिशुन पराय पाप कहि देहीं**॥ पावौं मैं तिनकी गति घोरा। जो जननी यह सम्मत मोरा॥ इसीलिए महाभारत में कहा है—'परिवाद अर्थात् दूसरों के पाप या अवगुणों को किसी प्रकार नहीं कहना और सुनना चाहिए, कानों को बन्द कर लेना चाहिए अथवा वहाँ से अन्यत्र चला जाना चाहिए। परिवाद तथा पिशुनता (दूसरों की निन्दा) करना दुष्टों का ही स्वभाव है, सन्त तो दूसरों के गुणों को ही कहते हैं—

न वाच्यः परिवादोऽयं न श्रोतव्यः कथञ्चन।
कर्णावथ पिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो भवेत्॥
असतां शीलमेतद्वै परिवादोऽथ पैशुनम्।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप॥
(शान्तिपर्व १३२।१२-१३)

'किस काम से पाप या पुण्य होता है' यह बात मुख्यरूप से शास्त्र से ही जानी जाती है। क्योंकि जन्मान्तर का होना, उस जन्म में पाप या पुण्य के फल का भोगना, उनके साथ शुभाशुभ कर्मों का कार्य-कारणभाव होना ये सब प्रत्यक्षादि प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकते। ऐसी दशा में जैसे शास्त्रप्रमाणानुसार यह स्वीकार किया जाता है कि अमुक कर्म करनेवाले को पाप या पुण्य की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ऊपर लिखे शास्त्रप्रमाणानुसार विना किये केवल कहने और सुनने से भी पाप या पुण्य की प्राप्ति होती है, यह भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए। जैसे दूसरों के पापों को कहने और सुनने से पाप की प्राप्ति होती है वैसे ही दूसरों के पुण्यों को कहने और सुनने से पुण्य की प्राप्ति भी होती है। इसीलिए इतिहास पुराणो में महापुरुषों के पुण्ययुक्त चरित्रों को पढ़ने, सुनने और कहनेवालों को पुण्य की प्राप्ति फलरूप में बताई गई है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो भी यह ठीक ही है। क्योंकि जब किसी के पुण्य या पापों का कथन, श्रवण या पठन मनुष्य करता है तब उसके मन में तत्काल उनके शुभ-अशुभ संस्कार पड़ जाते हैं। इसे शब्दान्तर में यों कह सकते हैं कि सूक्ष्मरूप में अन्तःकरण शुद्ध या अशुद्ध तत्काल ही हो जाता है। बाद में उस शुभ या अशुभ संस्कार के अनुकूल देश, काल, संग आदि सहयोगी सामग्री मिल जाने पर मनुष्य शुभ या अशुभ कर्म कर उठता है। जिससे उसे स्थूलरूप में भी पाप या पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। यही कारण है कि दूषित, कामुक, हिंसक, सिनेमा आदि से दूषित संस्कार का आधान होकर व्यक्ति तथा समाज का महान् पतन हो रहा है। अतः सरकार का कर्त्तव्य है कि ऐसी दूषित फिल्मों को रोककर शुभसंस्कार आधान करनेवाली फिल्मों का ही प्रचार-प्रसार करे।

दुष्टों के दुराचार का कथन-श्रवण करनेवालों को भी जब पाप की प्राप्ति होती है, तब कदाचित् प्रमाद से होनेवाले सन्तों के दुरा-

चार का कथन-श्रवण करनेवालों को तो और अधिक पाप की प्राप्ति होती है। समाज-विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो सन्तों के प्रमादादिक दुराचार का प्रचार करना समाज के लिए भी महान् हानिकर होता है। इसका कारण यह है कि सन्तों में अनेक महान् गुण होते हैं, जिनका अनुसरण करने से समाज का उत्थान होता है। सन्तों के उस प्रामादिक दुराचार का प्रचार करने से समाज की श्रद्धा उन पर नहीं रह जाती, इसलिए उनके गुणों का अनुसरण न करने के कारण महान् हानि होती है। साधारण मानव का यह स्वभाव होता है कि अनेक महान् गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव करके भी यदि एक अवगुण का श्रवण भी कर ले तो अश्रद्धा करके अनेक गुणों का तिरस्कार कर देता है। इसके अतिरिक्त यह भी भावना बैठ जाती है कि जब सन्तों में भी यह दोष है तो मेरे में यह दोष का होना क्या बड़ी बात है। इससे अपने सुधार का मार्ग बन्द हो जाने से व्यक्ति का महान् पतन होता है।

पूर्व में लिखे शास्त्रप्रमाणानुसार जब प्रत्यक्ष देखे दुष्टों के दुराचार का कथन द्वारा प्रचार करने से पाप की प्राप्ति होती है तब जहाँ आशङ्कामात्र से किसी को व्यभिचारी मान कर उसका प्रचार किया जाता है वहाँ तो और अधिक पाप की प्राप्ति होती है, क्योंकि आशङ्का-स्थल में व्यभिचार आदि दोष हों ही, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस विषय में एक सन्त की बात सुनो—

एक विरक्त सन्त एकान्त में ऊँचे टीले पर बैठे थे। उन्होंने देखा कि कुछ दूर पर एक युवती एक पुरुष को बोतल से गिलास में कुछ डाल कर हँस-हँस कर पिला रही है। विरक्त सन्त के मन में यह धारणा बन गई कि यह व्यभिचारी हैं, शराब पी रहे हैं। कुछ देर बाद वही दोनों महात्माजी के पास गये, बड़ी श्रद्धा-भक्ति से दण्डवत प्रणाम किया। सन्त को उनकी श्रद्धा-भक्ति और सरलता देख-

कर अति आश्चर्य हुआ, कुछ विचार बदले और पूछा कि इस बोतल में क्या है ? तब युवती ने बड़ी नम्रता तथा विनय युक्त वाणी में कहा—भगवन् ! मैं ससुराल से पिताजी के साथ आरही थी, परम-पावन गङ्गाजी की मध्यधारा से बोतल में गङ्गाजल भर लाई हूँ, लीजिए थोड़ा आप भी पान कीजिए। यह सुन कर विरक्त सन्त को अपनी दूषित धारणा के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि मैंने परम-पावनगङ्गाजल को शराब माना, परम पवित्र पिता-पुत्री को व्यभिचारी अपवित्र माना, धिक्कार है मुझे।

इस घटना से स्पष्ट हो जाता है कि आखों से देखी घटनाके आधारपर बनाई धारणा भी सर्वथा असत्य हो सकती है, तो जो लोग किसी के बारेमें कुछ अफवाहें सुनकर धारणा बना लेते हैं, वह असत्य हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। इसलिए चिरकाल तक सम्यक् परीक्षा करके ही अच्छी या बुरी धारणा बनानी चाहिए। धारणा बनाकर चिरकाल में ही परित्याग करना चाहिए। कुछ अफवाहें सुनकर त्याग नहीं करना चाहिए। राग, दर्प, मान, द्रोह पापकर्म, अप्रियकर्म करने में चिरकारी ही प्रशंसनीय होता है। विशेष करके बन्धु, सुहृद, नौकर तथा स्त्री के अव्यक्त अर्थात् आशङ्कामात्र से होने-वाले अपराधों में चिरकारी ही प्रशंसनीय होता है। ऐसा महाभारत के नीचे लिखे श्लोकों में स्पष्ट कहा है—

चिरेण मित्रं बध्नीयात् चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ।।

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्त्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ।।

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ।।

(शान्तिपर्व २६६।६९से७१)

इस विषय को और अधिक स्पष्ट पूर्णरूप से समझने के लिए महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २६६ का चिरकारी उपाख्यान पूरा मनोयोग से पढ़ना चाहिए। क्योंकि आशंकामात्र से अपराध-स्थलों में चिरकालतक सम्यक् परीक्षा किये बिना कदम उठाने से पूर्णपवित्र को भी दण्ड प्राप्त होने से महापाप की प्राप्ति बिना किये ही हो जाती है। अतः साधक सावधान !

जिन लोगों के ऊपर किसी के सुधार की जिम्मेदारी है वे लोग भीयदि अपराधियों में धनी-गरीब, अपना-पराया आदि का भेद करके, पक्षपातपूर्वक किसी को दण्ड देते दिलाते या उनके पापों का कथन या श्रवण करते हैं, उन्हें भी उस कर्म को किये बिना ही पाप की प्राप्ति होती है। जैसे व्यभिचार दोष में पकड़े गये नर-नारी में से एक को ही धनी-गरीब, अपना-पराया आदि के आधार पर पक्षपात करके दण्ड देने दिलाने पर होता है। क्योंकि वस्तुतः वे लोग व्यभिचार आदि दोष के विरोधी नहीं, किन्तु गरीब आदि के विरोधी हैं, ऐसा उनके पक्षपात पूर्ण दण्ड देने, दिलाने, कथन या श्रवण से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

ऊपर लिखे शास्त्रवचनों तथा उसके युक्तियुक्त विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे के प्रत्यक्ष देखे पापों के कथन या श्रवण करनेवालों को भी उस पाप कर्म को किये बिना भी पाप की प्राप्ति होती है। अतः जो साधक ऐसा मानते हैं कि 'हम झूठ नहीं कहते, मैंने आखों से उन्हें पापकर्म करते देखा है, इसलिए सत्य कहने में क्या पाप है ?' वे साधक शास्त्र के सिद्धान्त का सम्यक् ज्ञान न होने से ही ऐसा कहते हुये पाप कमाते हैं। अतः साधक को सावधान रहकर किसी के पापों का कथन-श्रवण न करके पुण्यों का ही कथन-श्रवण कर पुण्य की ही प्राप्ति करना चाहिए।

शब्दान्तर में यों भी कह सकते हैं कि पापियों के भी पापों का कथन या श्रवण न करने का तथा पुण्यात्माओं के पुण्यों के कथन और श्रवण करने का विधान जो शास्त्रों ने किया है, उसके पालन-अपालनरूप कर्म का ही यह फल होता है कि उन पाप-पुण्यों को न करने पर भी उनकी प्राप्ति हो जाती है।

पाप-निवृत्ति के उपाय

(१) विकर्मा तप्यमानः पापाद्विपरिमुच्यते ॥

(शान्तिपर्व १५२।२३)

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हते ।
तथा तथा शरीरं तु तेनाधर्मेण मुच्यते ॥

(अनुशासनपर्व ११२।५), (मनु० ११।२२९)

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात्प्रमुच्यते ।

(मनु० ११।२३०)

अर्थ—पापकर्म करनेवाला **सन्ताप** युक्त हुआ पाप से मुक्त हो जाता है। उसका मन जैसे-जैसे बुरे कर्म की **निन्दा करता** है वैसे वैसे उसका जीव उस अधर्म से मुक्त होता है। पाप करके **सन्ताप** करे तो उस पाप से मुक्त हो जाता है।

इन शास्त्रवचनों में जो **सन्ताप** को पापनिवृत्ति का उपाय कहा है उसका तात्पर्य यह है कि अन्य सभी पापनिवृत्ति के उपाय तबतक किये ही नहीं जा सकते जबतक मनुष्य को पापकर्म के लिए सन्ताप (पश्चात्ताप) न हो। इस प्रकार पश्चात्ताप सभी पायश्चित्तों का अनिवार्य सामान्य अंग है। इसीलिए कहा है कि पश्चात्ताप सभी पापों की परा निष्कृति है—

पश्चात्तापः सर्वेषां पापानां निष्कृतिः परा।

(शिवपुराण ४।५)

(२) पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्तते ।।

(शान्तिपर्व ३५।१)

नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्या पूयते तु सः ।।

(मनु० ११।२३०)

तस्माद् विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ।।

(मनु० ११।२३२)

अर्थ--पुरुष यदि पुनः पाप में प्रवृत्त नहीं होता तो पवित्र हो जाता है। ऐसा पुनः नहीं करूँगा इस प्रकार निवृत्ति द्वारा वह पवित्र हो जाता है। इसलिए पापमुक्ति की इच्छा करता हुआ दुबारा पाप न करे।

इन शास्त्रवचनों में पाप से मुक्ति के लिए जो पुनः पाप न करने की शर्त रखी गई है, वह सर्वथा उचित तथा मनोविज्ञानमूलक है। क्योंकि सभी प्रायश्चित्तों का मुख्य उद्देश्य यही है कि मनुष्य पुनः पाप न करे। यदि यह न हो सके तो प्रायश्चित्त करना न करने के बराबर ही होगा।

(३) मनोरथं तु यो दद्यादेकस्मा अपि भारत।

न कीर्तयेद् दत्त्वा यः स च पापात् प्रमुच्यते ।।

(शान्तिपर्व ३५।१५)

अर्थ—(अपनी सामर्थ्य के अनुसार कंजूसी किये विना) जो किसी एक भी (सुपात्र) की मनोवाञ्छित वस्तु को दे देता है और देकर किसी से भी नहीं कहता वह पाप से मुक्त हो जाता है।

मनोवाञ्छित वस्तु को देने से उसे बहुत सन्तोष होता है। किसी से न कहने से दान अधिक गुणदायी हो जाता है। इसलिए उसमें पापनाशक शक्ति अधिक हो जाती है। अतः इन दो गुणों का दान में विधान करने में शास्त्र का तात्पर्य है।

(४) यदि व्याहरते राजन् विप्राणां धर्मवादिनाम्।

ततोऽधर्मकृतात् क्षिप्रमपवादात् प्रमुच्यते ।।

(अनुशासनपर्व ११२।६)

अर्थ—यदि धर्मवादी ब्राह्मणों के सामने अपने पाप को कह देता है तो पाप के अपवाद से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

इसका कारण यह है कि अपने मुख से अपने पाप को वही कह सकता है, जिसके हृदय में लोकनिन्दा से भी अधिक पापकर्म से **सन्ताप** हो रहा हो। तीव्र सन्ताप पापनाशक होता है यह बात प्रथम अंक में कही ही है। अपने मुख से अपनी गलती स्वीकार कर लेने पर आज भी लोग फिर उसका अपवाद नहीं करते। इसीलिए मनुजी ने भी ख्यापन (कथन) को भी पापनाशक माना है **'ख्यापनेन'** ११।२२७, २८।

जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत।

अज्ञानात् स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते ।।

(शान्तिपर्व ३५।४१)

अर्थ—जानकर करने पर सभी पाप भारी हो जाते हैं। बिना जाने करने पर दोष थोड़ा होता है, इसलिए प्रायश्चित्त भी (थोड़ा) बताया जाता है।

इसका कारण यह है कि जानकर पाप करनेवाले का मन अधिक दोषयुक्त होता है, यही कारण है कि जो पाप करते समय पूरे मन से

पाप करता है तथा पाप करने के बाद भी लज्जित नहीं होता उसके पापका नाश नहीं होता, ऐसा शास्त्र में कहा है—

यो हि पापसमारम्भे कार्ये तद्भावभावितः ।
कुर्वन्नपि तथैव स्यात् कृत्वा च निरपत्रपः ।।
तस्मिस्तत् कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम् ।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ।।

(शान्तिपर्व ३३।३५-३६)

कारण स्पष्ट है, क्योंकि उसका मन अति दोषयुक्त तथा पश्चात्ताप से रहित होता है ।

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ।।

(मनु० ११।३०), (महाभारत शान्तिपर्व १६५।१७)

अर्थ—जो प्रथम कोटि का प्रायश्चित्त करने में समर्थ है, वह यदि (असमर्थों के लिए कहे गये) लघुकल्प प्रायश्चित्तों को करता है तो उसे पारलौकिक पापनाशरूप फल नहीं मिलता ।

इसका कारण यह है कि 'दण्डो नाम दमनम्' अर्थात् दण्ड उसे कहते हैं जिससे मन का दमन हो जाये । अतः शास्त्रकारों ने पाप की गुरुता-लघुता, व्यक्ति की समर्थता-असमर्थता तथा देश, काल आदि का विचार कर लघु-गुरु प्रायश्चित्तों का विधान इस प्रकार किया है कि मानव का मन दमित हो जाये, फिर पाप में प्रवृत्त न होवे। ऐसी दशामें समर्थ व्यक्ति यदि असमर्थ के लिए कहे गये लघु प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करेगा तो उसे कष्ट अधिक न होने से पाप प्रवृत्ति न रुकेगी, जिससे प्रायश्चित्त करना न करने के बराबर होगा । यही कारण है कि हरिनाम में सर्वपापनाशक शक्ति होते

हुये भी कष्टरहित साधन होने के कारण नामजापक की पापप्रवृत्ति को रोकने के लिए पूज्यपाद करपात्रीजी महाराज ने 'विचार पीयूष' ग्रन्थके २३५ पृष्ठ में नामपर श्रद्धा रखनेवालों के लिए भी मनु आदि स्मृति में कथित कष्टप्रद प्रायश्चित्तों की आवश्यकता बताई है ।

इस लेख में सामान्यतः पापनाशक उपायों का तथा उनके रहस्यों का ही कुछ विवेचन किया गया है । विशेष-विशेष पापों के विशेष-विशेषरूप में कथित प्रायश्चित्तों का ज्ञान तो धर्मशास्त्र के विद्वान् ही जानते हैं, अतः उनसे जानकर ही अनुष्ठान करना चाहिए, तभी फल होगा अन्यथा नहीं ।

संन्यास का अधिकार

शङ्का—संन्यास-ग्रहण का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्री को भी है ?

संन्यास का अधिकार ब्राह्मण को ही है

समाधान—संन्यास वेष ग्रहण करने से कोई लाभ होता है, यह प्रत्यक्षादिप्रमाण से या भौतिक विज्ञान से सिद्ध नहीं होता । अतः संन्यास-ग्रहण से होनेवाले लाभों की प्राप्ति तभी होगी जब संन्यास-प्रतिपादक शास्त्रविधानानुसार संन्यास ग्रहण किया जायेगा । अतः सर्वप्रथम यह विचार करना होगा कि शास्त्रों में संन्यास-ग्रहण का अधिकार किसको बताया है । देखिये—

(१) ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

(बृह० उप० ३।५।१)

ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ।

(मुण्ड० उप० १।२।१२)

(२) ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।

(मनु० ६।३८)

(३) नहि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति ।

(बृह० शांकरभाष्ये ४।५।१५)

(४) ब्राह्मणस्याश्रमाश्चत्वारः, क्षत्रियस्याद्यास्त्रयः,
वैश्यस्याद्यौ ।

(वैखा० ध० सू० १।१।१०-१२)

(५) चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः ।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः ॥

(यो० या० सं० १।२८)

(६) मुखजानामयं धर्मो यद् विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः ॥

(७) ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥

(शान्तिपर्व ६२।२)

अर्थ—(१) पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से उठकर ब्राह्मण भिक्षाचरण (संन्यास) करते हैं। ब्राह्मण निर्वेद (वैराग-संन्यास) को प्राप्त हो।

(२) ब्राह्मण सब कुछ त्यागकर घर से निकले—संन्यास ले।

(३) क्षत्रिय, वैश्य को संन्यास की प्राप्ति नहीं है।

(४-५) ब्राह्मण के चार, क्षत्रिय के तीन, वैश्य के दो और शूद्र का एक आश्रम होता है।

(६) मुख से उत्पन्न (ब्राह्मणों) का धर्म विष्णुलिंग (संन्यास) है, क्षत्रिय और वैश्य का नहीं। ऐसा दत्तात्रेय मुनि का वचन है।

(७) हे प्रभो ! ब्राह्मण के लिए चार आश्रम विहित हैं। अन्य तीन वर्ण उसका अनुवर्तन नहीं करते।

इन श्रुति, स्मृति और भाष्य के वचनों से अति स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण का ही संन्यास-ग्रहण में अधिकार है, अन्य किसी का नहीं। यही कारण है कि प्रायः आचार्य इसी पक्ष को मुख्य मानते हैं। क्योंकि श्रुति में ब्राह्मण पद का ही प्रयोग है, क्षत्रिय तथा वैश्य का नहीं। आगे लिखे जानेवाले स्मृतिवचनों में यद्यपि क्षत्रिय और वैश्य का भी संन्यास में अधिकार बताया है, तथापि श्रुति-सम्मत न होने से तथा ऊपर लिखे स्मृति और भाष्य के वचनों में क्षत्रिय वैश्य के लिए संन्यास का स्पष्ट निषेध होने से अधिकांश आचार्य ब्राह्मण का ही संन्यास में अधिकार मानते हैं। देखिये—

(१) अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चातुराश्रम्योपदेशात् ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति पूर्वमभिधानात् ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्याधिकारः ।

(कुल्लूकभट्ट, मनु० ६।९७)

(२) इति क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासाभाव उक्तः'''भगवता भाष्यकृता ब्राह्मणस्यैव संन्यासो नान्यस्येति निर्णीतम् ।

(गीता ४।२० मधुसूदनी टीका)

(३) (क्षत्रियस्य) भैक्ष्यचर्यायामनधिकारात् ।

(गीता ३।८ नीलकंठी)

अर्थ—(१) इस श्लोक में ब्राह्मण के लिए ही चार आश्रमों का उपदेश होने से तथा 'ब्राह्मण' संन्यास ले, ऐसा पूर्व में कथन किया होने से ब्राह्मण का ही संन्यास में अधिकार है।

(२) इस प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के संन्यास का अभाव कहा। भगवान् भाष्यकार ने 'ब्राह्मण का संन्यास कहा है अन्य का नहीं', ऐसा निर्णय दिया है।

(३) (क्षत्रिय) का भिक्षाचरण (संन्यास) में अधिकार नहीं।

अब्राह्मण को संन्यास का अधिकार मानने से शास्त्रीय व्यवहार परम्परा का भी विरोध होता है। देखिए—उस अब्राह्मण संन्यासी को श्रेष्ठ चतुर्थाश्रमी मानकर यदि कोई ब्राह्मण उसके पैर धोता है या पैर छूता है या गुरु बनाता है या वे संन्यासी स्वयं ऐसा करते हैं तो शास्त्रमर्यादा का अतिक्रमण होता है। क्योंकि संन्यास वेषमात्र की तो बात ही क्या, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न विद्वान् होने पर भी अब्राह्मण अधमवर्ण का होने से अपने से उत्तम वर्णवाले ब्राह्मण को शिष्य नहीं बना सकता। यही कारण है कि पञ्चाग्नि-विद्या के विद्वान् क्षत्रिय राजा ने अविद्वान् ब्राह्मण को शिष्य नहीं बनाया। और ऐसा कहा कि ब्राह्मण क्षत्रिय का शिष्य बने यह तो प्रतिलोम (विपरीत) होगा—

प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयात् ।

(बृह० उप० २।१।१५)

श्रुति में ही नहीं, किन्तु स्मृति में भी कहा है कि 'बहुश्रुत तथा ज्ञान-गुण-कर्म से युक्त होने पर भी क्षत्रिय आदि का ब्राह्मण अभिवादन न करे—

नाभिवाद्यास्तु विप्रेण क्षत्रियाद्याः कथञ्चन ।
ज्ञानकर्मगुणोपेता यद्यप्येते बहुश्रुताः ॥

(वीरमित्रोदये संस्कारप्रकाशे)

श्रीशङ्कराचार्यजी ने भी कहा कि 'ब्राह्मण का, क्षत्रिय आदि का नहीं—

ते च ब्राह्मणाः, न क्षत्रियादयः, तेषामासनेनासन-दानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम् ।

(तैत्तरीयोपनिषद् १।११)

इन प्रमाणों से अति स्पष्ट है कि उत्तम वर्ण के ब्राह्मण द्वारा ज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी अधम वर्ण के क्षत्रिय आदि के पैर छूना या उनका शिष्य बनना एवं अधम वर्ण द्वारा उत्तमवर्ण से पैर छुआना, शिष्य बनाना शास्त्रविरुद्ध है।

यही कारण है कि सन्त तुलसीदासजी ने भी 'विप्रों से पुजानेवाले अधम वर्ण अपने हाथ ही दोनों लोक नष्ट करते हैं' ऐसा कहा है—

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा ।
स्वपच किरात कोल कलवारा ॥
नारि मुई घर सम्पत्ति नासी ।
मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी ॥
ते बिप्रन्ह सन आप पुजावहिं ।
उभय लोक निज हाथ नसावहिं ॥

(७।९९।५-६-७)

शङ्का—वर्तमान में तो सभी वर्ण के लोग संन्यासी बने हुए हैं, तो क्या उनके पैर छूने से पहले उनसे पूछा करें कि आप किस जाति के हैं। यह तो अशिष्टता-सी होगी। पैर न छूने पर तो संन्यासी का अपमान होगा।

समाधान—जिन्हें आप जानते हैं कि यह उत्तम वर्ण के हैं, उनके पैर छू लीजिए। जिन्हें नहीं जानते उनसे वर्ण पूछने की अशिष्टता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें दूर से 'नमो नारायण' कर लीजिये। इससे संन्यासी का सम्मान भी हो जायेगा।

शङ्का—सबका सम्यक् त्याग करना ही संन्यास है। ऐसी दशा में जाति का त्याग भी अवश्य हो जाता है। अतः जातिवाद का आश्रय लेकर पैर छूने, न छूने का विवाद खड़ा करना उपहास-योग्य है।

समाधान—जाति का त्याग विवेक से ही किया जाता है, स्वरूप से नहीं। क्योंकि शरीर का त्याग यदि स्वरूप से ही कर दिया जाय तो संन्यास-वेष कौन धारण करेगा। अतः शरीर का स्वरूप से त्याग संभव न होने से शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली जाति का भी शरीरपर्यन्त स्वरूप से त्याग नहीं होता, विवेक से ही होता है।

संन्यास का अधिकार क्षत्रिय और वैश्य को भी है

नारदपुराण में तीनों वर्णों के लिए चौथे आश्रम संन्यास का भी अधिकार बताया है। सुरेश्वराचार्यजी ने भी श्रुति में आये ब्राह्मण पद को तीनों वर्णों का उपलक्षण मान कर क्षत्रिय-वैश्य का भी संन्यास में अधिकार माना है। देखिये—

(१) **ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणां मुनिसत्तम।**
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः पञ्चमो नोपपद्यते॥

(नारद पु० पूर्वार्ध २४।३२)

(२) **'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः'**
'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्'

(मल्लिनाथोदाहृत र० वं० टी० ८।१४)

(३) **त्रयाणामपि वर्णानां श्रुतौ संन्यासदर्शनात्।**
ब्राह्मणस्यैव संन्यास इति श्रुत्या विरुद्ध्यते॥

(बृहदारण्यवार्तिक १।४।१६५१)

(४) **त्रयाणामविशेषेण संन्यासः श्रूयते श्रुतौ।**
यदोपलक्षणार्थं स्याद् ब्राह्मणग्रहणं तदा॥
कर्माधिकारविच्छेदि ज्ञानं चेदभ्युपेयते।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात्॥
प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानस्वभावश्चेत् समर्थ्यते।
व्युत्थानं यस्य यस्य स्यात् स स व्युत्थातुमर्हति॥
एवं चेद् ब्राह्मणोक्तिः स्याद् ध्वस्ताविद्यगृहीतये।
स ब्राह्मण इति स्पष्टं श्रुतिरन्ते च वक्ष्यति॥

(बृहदारण्यवार्तिक ३।५।८९ से ९२)

अर्थ—(१) हे मुनिश्रेष्ठ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों के लिए चार आश्रम कहे गये हैं। पाँचवाँ प्राप्त नहीं होता।

(२) तीनों वर्ण वेद पढ़कर चार आश्रमों (के अधिकारी हैं) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी घर से संन्यास ले।

(३) तीनों वर्णों के लिए श्रुति में संन्यास देखने से ब्राह्मण का ही संन्यास होता है, यह कहना श्रुति से विरुद्ध है।

(४) जब तीनों वर्णों के लिए समानरूप से श्रुति में संन्यास कहा है, तब ब्राह्मण का ग्रहण उपलक्षण के लिए है। कर्म के अधि-कार का उच्छेद करनेवाला ज्ञान है, ऐसा यदि स्वीकार करते हो तो व्युत्थान (संन्यास) में अधिकार का नियम बलात् क्यों करते हो। यदि संन्यास प्रत्यक् आत्मतत्त्व के यथार्थज्ञान का स्वभाव ही है, ऐसा

समर्थन करते हो, तो जिसे जिसे वह ज्ञान होगा, वह वह संन्यास का अधिकारी होगा। यदि ऐसा है, तब ब्राह्मण पद का कथन ध्वस्त अविद्यावाले का ग्रहण करने के लिए है। 'वह ब्राह्मण है' ऐसा श्रुति अन्त में स्पष्ट कहेगी भी।

इन वचनों के आधार पर कुछ प्राचीन तथा अधिकांश अर्वाचीन आचार्य दण्ड-ग्रहणरहित संन्यास में क्षत्रिय और वैश्य का भी अधिकार स्वीकार करते हैं तथा यह युक्ति भी देते हैं कि जब क्षत्रिय तथा वैश्य को यज्ञोपवीत शास्त्रविधि से धारण कराया जाता है, तब उसका त्यागरूप संन्यास भी शास्त्रविधि से ही होने के कारण उनका भी संन्यास में अधिकार है।

स्त्री-शूद्र संन्यास विचार

स्त्री तथा शूद्र का भी संन्यास में अधिकार है, ऐसा कथन करने-वाला शास्त्रवचन मुझे नहीं मिला। निषेध करनेवाले ही वचन मिले हैं—

(१) **जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम् ॥**
देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट् ॥

(अत्रिस्मृति १३३)

(२) **आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ।**

(शान्तिपर्व ६३।१३)

अर्थ—(१) जप, तप, तीर्थयात्रा, संन्यास, मन्त्रसाधन तथा देवताराधन ये छह कर्म स्त्री और शूद्र के लिए पतनकारी हैं।'

(२) (शूद्र के लिए) निराशिष अर्थात् संन्यास को छोड़कर सभी आश्रम विहित हैं।

ऐसा होने पर भी मनुस्मृति ८।३।६२ 'प्रव्रजितासु' शब्द आया है तथा महाभारत शान्तिपर्व में सुलभा नाम की भिक्षुकी की चर्चा है देखिये—

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता ।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥

(शान्तिपर्व ३२०।७)

अर्थ—धर्मयुग में योगधर्म का अनुष्ठान करनेवाली सुलभा नाम की भिक्षुकी (संन्यासिनी) ने पृथ्वी में विचरण किया।

यहाँ नीलकण्ठजी ने कहा कि 'भिक्षुकी' शब्द से सिद्ध होता है कि विवाह से पहले तथा विधवा होने के बाद स्त्रियों का भी संन्यास में अधिकार है। इसलिए भिक्षाचरण, मोक्ष, शास्त्रश्रवण, एकान्त में आत्मध्यान तथा त्रिदण्डधारण आदि कार्य स्त्री को भी करना चाहिए—

'भिक्षुकी' इति अनेन स्त्रीणामपि प्राग् विवाहात् वैधव्यादूर्ध्वं वा, संन्यासेऽधिकारोऽस्ति इति दर्शितम्, तेन भिक्षाचर्यं मोक्षशास्त्रश्रवणम्, एकान्ते आत्मध्यानं च ताभिरपि कर्तव्यम्, त्रिदण्डादिकं च धार्यम् ।

(नीलकंठ शान्तिपर्व ३२०।७)

इन वचनों के आधार पर कुछ लोग स्त्री को भी संन्यास का अधिकार है, ऐसा स्वीकार करते हैं। परन्तु शास्त्र में कहीं स्पष्ट विधान न मिलने से तथा उक्त अत्रिस्मृति में स्त्री के लिए संन्यास को पतनकारी बताने से, केवल प्रव्रजिता (संन्यासिनी) या भिक्षुकी शब्द के आधार पर स्त्री को भी संन्यास का अधिकार स्वीकार करना, साहस करना ही कहा जायेगा।

विद्वानों के लिए विचारणीय

नीलकण्ठजी ने गीता ३।२० की व्याख्या में क्षत्रिय का भी दण्डादि लिंग धारण में अधिकार नहीं माना, फिर भी शान्तिपर्व में स्त्री के लिए भी त्रिदण्ड-धारण की बात कहते हैं। यह अति-आश्चर्य की बात है।

'ननु क्षत्रियस्य संन्यासेऽधिकारो नास्ति इति चेत्, लिङ्गधारणाऽभावेऽपि भरतऋषभादिवद् विक्षेपकर्मत्याग-मात्रेऽधिकारात्।

(नीलकंठी गी० ३।२०)

यहाँ क्षत्रिय के लिये त्यागात्मक संन्यास का अधिकार स्वीकार करके भी गीता ३।८ में—

'भैक्ष्यचर्यामनधिकारात्'

कह कर संन्यास का निषेध करते हैं। पूरा प्रसंग देख कर विद्वानों को इन विरोधाभासों पर गंभीर विचार अवश्य करना चाहिए एवं लेख में लिखे शांकरभाष्यमें क्षत्रिय और वैश्य का संन्यास में अधिकार नहीं माना। किन्तु उसी भाष्य के ऊपर वार्तिक में क्षत्रिय तथा वैश्य का भी संन्यास में अधिकार माना है। गुरु-शिष्य के इस विरोध पर भी विद्वानों को अवश्य विचार करना चाहिए। यह मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

यद्यपि ऊपर लिखे अत्रिस्मृति के तथा शान्तिपर्व के वचनों से स्त्री और शूद्र का संन्यास में अधिकार नहीं, यह स्पष्ट है। तथापि शरीर की प्राप्ति मोक्षलाभ के लिए ही है 'साधन-धाम मोक्ष कर द्वारा'। अतः मोक्ष लाभ के लिए सब का त्याग करके निरन्तर भजन-ध्यान-विचार का अवसर सम्पादन करने के लिए दण्डधारण या कषाय-

वस्त्रधारण आदि के बिना त्यागात्मक संन्यास में मानवमात्र का अधिकार होना, सर्वथा न्याययुक्त है। इसीलिए शान्तिपर्व में जहाँ शूद्र के लिए संन्यास का निषेध किया है, उसी के अगले श्लोक में धर्मचारी शूद्र के लिए भी भैक्ष्यचर्या की अनुमति स्पष्ट शब्दों में दी है—

भैक्ष्यचर्यां ततः प्राहुस्तस्य (शूद्रस्य) तद्धर्मचारिणः।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि॥

(शान्तिपर्व ६३।१४)

अर्थ—हे राजेन्द्र! उस धर्मचारी शूद्र को तथा क्षत्रिय और वैश्य को भी भैक्ष्यचर्या कही है।

सारांश—श्रुतियों में 'ब्राह्मण' पद का ही प्रयोग होने से ब्राह्मण का ही लिंगसहित संन्यास में अधिकार है, यह मुख्य पक्ष है। कुछ स्मृतियों में क्षत्रिय तथा वैश्य का भी संन्यास में अधिकार स्पष्टतया कथित होने से, लिंगरहित संन्यास में क्षत्रिय और वैश्य का भी अधिकार है। त्यागात्मक संन्यास में मानवमात्र का अधिकार है। अधम वर्ण के संन्यासी द्वारा उत्तम वर्णवाले व्यक्ति को शिष्य बनाना, पैर छुवाना, जूठा भोजन प्रसादरूप में देना आदि कार्य करना, शास्त्रमर्यादाविरुद्ध है। सत्य तो यह है कि साधन से ही कल्याण होता है, संन्यासवेषमात्र से नहीं—

'न लिङ्गं धर्मकारणं'

(मनु० ६।६६)

अतः साधन में विशेष आग्रह होना चाहिए, संन्यासवेष में नहीं।

इसीलिए भागवत में भी कहा है कि मौन, व्यर्थ चेष्टा का अभाव तथा प्राणायाम ये तीन क्रमशः वाणी, देह और चित्त के दण्ड हैं। ये

दण्ड जिसके पास नहीं हैं वे बहुत से वेणु (बांस) धारण द्वारा भी संन्यासी नहीं होता—

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न दतिर्भवेत् ॥

(भाग० ११।१८।१७)

संन्यास का काल

ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वा वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा ।···यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ।

(जाबालोपनिषद् ४)

अर्थ—ब्रह्मचर्यं समाप्त करके गृहस्थ बने, गृहस्थ होकर वानप्रस्थी बने, वानप्रस्थी होकर संन्यासी बने अथवा ब्रह्मचर्य या गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रम से ही संन्यास ग्रहण करे। 'जिस दिन तीव्र वैराग्य हो जाये उसी दिन संन्यास ग्रहण करे'।

इस जाबालोपनिषद् के मन्त्र में आश्रम क्रम से या बिना क्रम से भी संन्यास ग्रहण का विधान है। तो अन्तिम वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि संन्यास-ग्रहण का मुख्य काल तीव्र वैराग्य जब हो तब संन्यास ले। इस अन्तिम वाक्य का वर्तमान में दुरुपयोग हो रहा है। अर्थनाश, पत्नीमरण, गृहकलह आदि कारणों से कुछ क्षण ठहरनेवाले वैराग्य को संन्यास-ग्रहण का मुख्य काल मानकर लोग संन्यास-ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु क्षणिक वैराग्य समाप्त हो जाने पर वे लोग ब्रह्मचर्यं आदि संन्यास के नियम पालन

नहीं कर पाते। इससे उनका, उनके पितरों का तथा समाज का पतन होता है। इसीलिए मनुस्मृति में कहा है—वेदों को बिना पढ़े, पुत्रों को उत्पन्न किये बिना तथा यज्ञों द्वारा यजन किये बिना जो मोक्ष की इच्छा करता है अर्थात् संन्यास-ग्रहण करता है उसका अधःपतन होता है। देखिये मनुस्मृति के ६।३५-३६-३७ श्लोक।

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥

(मनु० ६।३७)

तात्पर्य यह है कि वेदशास्त्र के अध्ययन से ऋषि-ऋण, पुत्रों के उत्पादन से पितृऋण तथा यज्ञों के करने से देवऋण से मानवमुक्त होता है। इन तीन ऋणों से मुक्त होकर शुद्ध अन्तःकरणवाला जितेन्द्रिय मानव जब संन्यास-ग्रहण करता है तो उसका मोक्ष होता है अन्यथा पतन होता है। इसलिए क्षणिक वैराग्य के आवेग में वृद्ध माता-पिता, युवती-पत्नी, छोटे बच्चों, विवाहयोग्य पुत्र-पुत्री को छोड़कर संन्यास-ग्रहण नहीं करना चाहिए। ऐसा करनेवालों का प्रायः पतन ही होता है।

नारी स्वभाव वर्णन

शङ्का--(१) भ्राता पिता पुत्र उरगारी ।
पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥
होइ बिकल मन सकइ न रोकी ।
जिमि रविमनि द्रव रविहिं बिलोकी ॥

(आरण्य १६।३)

(२) विधिहुँ न नारिहृदय गति जानी ।
सकल कपट अघ अवगुन खानी ।।
(अयो० १६१।२)

(३) नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं ।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं ।।
साहस अनृत चपलता माया ।
भय अविवेक असौच अदाया ।।
(लंका १५।१-२)

(४) ढोल गँवार सूद्र पशु नारी ।
सकल ताड़ना के अधिकारी ।।
(सुन्दर ५८।३)

ऊपर लिखी चौपाइयों को पढ़कर ऐसा लगता है कि तुलसीदास-जी नर थे इसलिए उन्हें नारी से घृणा थी, जिससे उन्होंने नारी-स्वभाव का बेहूदा वर्णन किया। प्रथम अंक में लिखी बातें अश्लील ही नहीं हैं किन्तु सर्वसाधारण के अनुभव के विरुद्ध हैं। देखिये इस कराल कलिकाल में भी पशुपालिका मूर्ख स्त्रियाँ भी अपने सुन्दर भ्राता, पिता और पुत्र को देखकर कामातुर होकर विकल नहीं होतीं। ऐसी दशा में सत्त्वगुणप्रधान सतयुगादि में स्त्रीमात्र के लिए यह कहना कि 'सुन्दर भ्राता तथा पुत्र को देखकर नारी विकल हो जाती हैं' सर्वथा असत्य है।

समाधान—प्रथमाङ्क में लिखी चौपाई सूर्पनखा के प्रसंग की है। अतः प्रकरण के अनुसार उनका यही तात्पर्य-अर्थ निकलता है कि सूर्पनखा जैसी दूषित हृदयवाली स्त्रियों के लिए ही यह कहा है

कि वे सुन्दर भ्राता, पिता तथा पुत्र को भी देखकर विकल हो जाती हैं, स्त्रीमात्र के लिए नहीं कहा। अतः तुलसीदासजी का कथन न तो अनुभवविरुद्ध है, न असत्य है और न घृणामूलक ही है। क्योंकि अन्यत्र स्त्रियों का महान् सम्मान करते हुए वे कहते हैं—

डगइ न संभु सरासन कैसे ।
कामी बचन सती मन जैसे ।।
(बाल० २५०।१)

ऐसा कहनेवाले तुलसीदासजी का भला स्त्रीमात्र के लिये यह कैसे कह सकते हैं कि वह सुन्दर भ्राता, पिता तथा पुत्र को देखकर विकल हो जाती हैं, मन को नहीं रोक सकतीं।

इसी प्रकार प्रकरण के अनुसार विचार करने पर यह स्वीकार करना होगा कि द्वितीय अंक में लिखी चौपाई भरतजी ने अपनी माता कैकेयी को ही लक्ष्य करके कही है, स्त्रीमात्र के लिये नहीं कही। कैकेयी का रामजी के प्रति कैसा स्नेह था, उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

कौसल्या सम सब महतारी ।
रामहिं सहज सुभायँ पियारी ।।
मोपर करहिं सनेह बिसेषी ।
मैं करि प्रीति परीक्षा देखी ।।
(अयो० १४।३)

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू ।
होहुं राम सिय पूत पतोहू ।।

प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे ।
तिन्ह के तिलक छोभ कस तोरे ।।

(अयो० १४।४)

श्रीरामजी के प्रति ऐसी धारणा तथा ऐसी प्रीति होने पर भी उनके लिये यह वरदान माँगा—

तापस बेष बिसेषि उदासी ।
चौदह बरिस राम बनबासी ।।

(अयो० २८।२)

इसके कारण कौशल्यादि माताओं को, सीताजी तथा लक्ष्मणजी को, पुरवासियों को महान् कष्ट हुआ। दशरथजी ने तड़प-तड़प कर प्राण ही त्याग दिये। देश अनाथ हो गया, इतना ही नहीं, किन्तु कैकेयी स्वयं भी अनाथ (विधवा) हो गई, फिर भी जरा भी लजाई नहीं। भरतजी के व्याकुल होने पर भी—

आदिहुँ से सब आपनि करनी ।
कुटिल कठोर मुदित मन बरनी ।।

ऐसी नारी को लक्ष्य करके यह कहना कि—

बिधिहु न नारि हृदय गति जानी ।
सकल कपट अघ अवगुन खानी ।।

सर्वथा उचित ही है। ऐसे स्वभाववाली नारी में तृतीय अंक में कथित साहस आदि दोष भी होते ही हैं। देखिये—

प्रिय जनों को महान् कष्ट देकर स्वयं विधवा होने का कार्य करना कितना बड़ा **साहस** है। राजा से वरदान प्राप्त करने के लिए कैकेयी ने **अनृत**, **चपलता** तथा **माया** का खूब प्रयोग किया। "सौत

की सेवा करनी पड़ेगी" मंथरा के इस वचन से **भयभीत** हो गई, जिससे ऐसी **विवेकहीन** हो गई कि सभी के समझाने पर भी न समझी, जिससे **दयाहीनता** चरम सीमा पर पहुँच गई।

चतुर्थ अङ्क में लिखी चौपाई समुद्र ने कही है, वहाँ जड़ता का प्रसङ्ग है—

गगन समीर अनल जल धरनी ।
इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ।।

(सुन्दर० ५८।१)

चेतन नारी आदि में जड़ता का अर्थ अल्पबुद्धि का होना ही है। पाश्चात्य देशों में स्त्री-पुरुषों को शिक्षा के समान साधन प्रदान करके अनेकों बार परीक्षण करके देखा गया है कि गणित, विज्ञानादि बुद्धिप्रधान विषयों में स्त्रियाँ पुरुषों से बहुत पीछे रह जाती हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि प्रायः स्त्रियों में बुद्धि अल्प होती है। सैकड़ों में कोई दो एक बुद्धिप्रधान होती हैं। इसका कारण यह है कि भावप्रधान हुए बिना बच्चों का लालन-पालन हो ही नहीं सकता, इसलिये भगवान् ने प्राकृत विधान के अनुसार नारी को प्रायः भावप्रधान ही बनाया है बुद्धिप्रधान नहीं। (इस पर विस्तार से विचार मेरे द्वारा लिखित 'वैदिक चर्या विज्ञान' पुस्तक में 'नारी परतन्त्रता विज्ञान' नाम के प्रकरण में किया है। पाठक उसे अवश्य पढ़ें।)

जो जड़ अर्थात् बुद्धिप्रधान नहीं ऐसे पशु-गँवार-शूद्र-नारी आदि का कल्याण ताड़ना के बिना नहीं हो सकता, इसमें किसी का भी विवाद नहीं हो सकता। यहाँ ताड़ना का मुख्य अर्थ नियन्त्रण के साधन समझना, आँख दिखाना, फटकारना, भय दिखाना ही है। जब इनसे काम न चले तब अति-आवश्यक होने पर ही मारना

(१

(३

(४

ऊपर
जी नर थे
स्वभाव क
ही नहीं हैं
कराल क
भ्राता, पि
ऐसी दश
कहना कि
हैं' सर्वथा

समाध
है। अतः
कि सूर्पनख

चाहिए। इससे बुद्धिप्रधान नारी आदि तो किसी प्रकार क
ताड़ना के अधिकारी नहीं होते, यह बात अर्थतः सिद्ध हो जाती

पशु गँवार-शूद्र-नारी का नाम स्पष्ट लेकर आगे 'सकल' इ
का प्रयोग यह बता रहा है कि इनके अतिरिक्त बालक, वृद्ध, ब्रा
क्षत्रिय, वैश्य आदि सकल प्राणी जो जड़ अर्थात् बुद्धिप्रधान
वे सभी ताड़ना के अधिकारी हैं। 'सकल' शब्द से पशु आदि क
लेने पर समुद्र का ग्रहण न किया जा सकेगा। ऐसी दशा में उसे
ताड़ना दी गई है वह अनुचित होगी तथा प्रकरण का विरोध हो

ऐसा लगता है कि शङ्काकर्ता का ध्यान 'नारी' शब्दपर टि
गया तथा 'ताड़ना' शब्द का अर्थ मारना ही माना, इसलिये
शङ्का हुई। वस्तुतः प्रसङ्गानुसार विचार करने पर ऐसा ही
निकलता है कि 'जो जड़ अर्थात् अल्पबुद्धिवाले हैं वे सकल प्र
ताड़ना अर्थात् नियन्त्रण-साधन के अधिकारी हैं' ऐसा अर्थ स
लेने पर शङ्का हो ही नहीं सकती।

इस प्रकार चार स्थल की चौपाइयों के आधार पर की
शङ्का का परिहार जैसे प्रकरण पर विचार कर किया है, वैसे
अन्य स्थलों का भी विचार करने पर इस शङ्का का समूल संहार
जायगा कि 'तुलसीदासजी नर थे इसलिए नारी से घृणा करते थे'

सत्संग-भजन से क्या लाभ ?

शङ्का—जो सत्संग, भजन, ध्यान, दानादि साधनों पर श्रद्धा
होने के कारण इन्हें नहीं करते वे नहीं, किन्तु जो इन पर श्र
रखते हैं तथा इन्हें करते भी हैं, उनके जीवन में भी पति-पत्
पिता-पुत्र, पद-प्रतिष्ठा-पैसा, मान, मकान आदि प्रिय पदार्थों से वि
के अवसर आते हैं एवं रोग, शत्रु आदि अप्रिय पदार्थों से संयोग
अवसर आते ही हैं। इन्हें देखकर साधन न करनेवालों के हृदय

यह शङ्का होती है कि सत्संग आदि से क्या लाभ होता है ?
ना ही नहीं, किन्तु किसी-किसी को तो 'यह सब व्यर्थ है' ऐसी
श्रद्धा भी होती है।

समाधान—लाभ का वास्तविक स्वरूप न जानने के कारण हो
ङ्का या अश्रद्धा होती है। लाभ का वास्तविक दृष्ट स्वरूप है
ानसिक शान्ति', अदृष्ट स्वरूप है परलोक में सद्गति। 'परलोक
सद्गति' तो परोक्ष होने से एकमात्र शास्त्र प्रमाणगम्य ही है।
ानसिक शान्ति' अपरोक्ष होने से इसका ही अनुभव के अनुसार
क्ति तथा दृष्टान्त से यहाँ निरूपण किया जायेगा।

यदि भक्त का जीवन उपर्युक्त समस्त संकटों से मुक्त ही रहे और
भक्त का जीवन उनसे युक्त ही रहे तो भजन आदि साधन का उप-
श करने की आवश्यकता ही न रह जाये, स्वयं ही सभी भजन
ादि साधन में संलग्न हो जायें।

भक्त-अभक्त के जीवन-निर्वाह में अन्तर

कल्पना कीजिये कि एक भक्त है दूसरा अभक्त है, दोनों के पास
मान जमीन है, उसमें समान अन्न उत्पन्न हुआ। इस प्रकार कोई
न्तर नहीं हुआ, तो भी भक्त का अन्न मँहगा बिका, वस्त्रादि सस्ते
वरीदे, सस्ती दवाओं से रोग का निवारण हो गया, चोर और डाकू
धन अपहरण नहीं किया। इसके विपरीत अभक्त का अन्न सस्ता
बिका, वस्त्रादि मँहगे खरीदने पड़े, मँहगी दवाओं से रोग-निवारण
हुआ एवं चोर-डाकुओं ने धन अपहरण कर लिया। इस प्रकार भक्त-
अभक्त के जीवन-निर्वाह में अन्तर हो जाता है। यह एक कल्पना-
मात्र ही नहीं है, किन्तु लोक में बहुधा ऐसा प्रत्यक्ष देखने में भी
आता है।

भक्त-अभक्त की मानसिक शान्ति में अन्तर

अब ऐसी कल्पना कीजिए कि अभक्त के जीवन में ऊपर लिखी सम्पूर्ण अनुकूलताएँ ही आईं, तो भी विवेक न होने तथा मन शुद्ध न होने के कारण भविष्य की चिन्ता से चित्त जलता रहता है, अपने से अधिक सम्पत्तिवालों को देखकर कुढ़ता रहता है और छोटों को देखकर अभिमान करके उनका अपमान करता रहता है। इस प्रकार सदा मानसिक अशान्ति से ग्रस्त रहता है।

इसके विपरीत भक्त के जीवन में ऊपर लिखी सम्पूर्ण प्रतिकूलताएँ ही आईं, तो भी सत्संग से विवेक प्राप्त होने तथा भजन से मन शुद्ध होने के कारण भविष्य की चिन्ता आदि ऊपर लिखे दोषों से मुक्त रहता है। इस प्रकार सदा मानसिक शान्ति से युक्त रहता है। यह एक कल्पनामात्र ही नहीं है; किन्तु लोक में प्रत्यक्ष देखने में भी आता है।

तात्पर्य यह है कि 'मानसिक शान्ति' ही सत्संग आदि का प्रत्यक्ष लाभ है। इसकी स्थिति विवेकयुक्त बुद्धि से होती है। अतः भक्त-वत्सल भगवान् भक्त को ज्ञान प्रदान करके ही उसकी रक्षा करते रहते हैं। पशुपाल की तरह दण्ड लेकर नहीं करते। यह बात अति स्पष्ट शब्दों में व्यासजी ने कही है—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संविभजन्ति तम् ॥

(महाभारत उद्योगपर्व ३५।४०)

यदि 'मानसिक शान्ति' भी न हो रही हो, तो यह जानना चाहिए कि सत्संग भजन ठीक से नहीं किया।

भक्तों पर संकट क्यों ?

भक्त-भयहारी चक्र-धनुर्धारी प्रभु के रहते हुए भी भक्त पर सङ्कट क्यों आते हैं? यह प्रश्न आस्तिक जिज्ञासा के रूप में, नास्तिक कटाक्ष के रूप में उठाते हैं। इसका उत्तर विद्वानों ने विभिन्न रूपों में दिया है।

प्रारब्ध भोग के लिये—मन्द, मध्यम, तीव्र रूप में प्रारब्ध तीन प्रकार का होता है। इनमें से तीव्र प्रारब्ध के न मिटने का नियम स्वयं भगवान् ने ही बनाया है। अतः सर्वसमर्थ होते हुए भी प्रभु उस तीव्र प्रारब्ध को नष्ट नहीं करते। इसलिये उसे भोग द्वारा नष्ट कराने के लिये भक्तों पर भी संकट आते हैं। तीव्र प्रारब्ध नष्ट न करने में भी एकमात्र हेतु स्वनिर्मित नियम का पालन ही है, असमर्थता हेतु नहीं। इसी तीव्र प्रारब्ध को लक्ष्य करके योगवाशिष्ठ के उपशम प्रकरण ८९।२६ में कहा है कि सर्वज्ञ, बहुज्ञ, माधव, हर कोई भी नियति (प्रारब्ध) को बदलने में समर्थ नहीं—

सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि वा ।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि ॥

[इस पर विस्तार से विचार (साधन-विचार) नाम की मेरी पुस्तक में 'पुरुषार्थ प्रबल या प्रारब्ध' इस नाम के लेख में किया गया है। पाठक वहीं पढ़ें।]

परीक्षा के लिये—अन्य विद्वानों का कहना है कि भक्तों की भक्तिनिष्ठा की परीक्षा के लिये ही भक्त भयहारी होते हुए भी प्रभु भक्त पर संकट डालते हैं। जो भक्त जितना बड़ा होता है उस पर उतना बड़ा संकट डाल कर परीक्षा करते हैं। जैसे स्वर्ण-परीक्षक सुनार है, वे मिश्रित अशुद्ध स्वर्ण की परीक्षा घिस कर-तपाकर करता है, किन्तु पूर्ण विशुद्ध स्वर्ण की परीक्षा गलाकर ही करता है।

परीक्षा संकट आने पर ही होती है। इसीलिये किसी कवि ने कहा है—

> वह पथ क्या पथिक कुशलता क्या,
> यदि पथ में बिखरे शूल न हों।
> नाविक की धैर्यपरीक्षा क्या,
> यदि धाराएँ प्रतिकूल न हों॥

भक्त-भक्ति प्रचार के लिये—कुछ विद्वानों का कहना है कि भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्त का तथा भक्ति का भरपूर प्रचार-प्रसार संसार में करने के लिये ही भक्त पर संकट डालते हैं। संकट-रहित सुख-सुविधापूर्ण जीवन में तो अभक्त भी प्रसन्नमन रहता है। जब भक्त अति संकट में भी प्रसन्न रहता है, तब जनता उसे जानती है और यह मानती है कि अवश्य ही भगवद्भक्ति में ऐसी शक्ति है जिससे अति संकट में भी प्रसन्न रहा जा सकता है। इस प्रकार संसार में भक्त-भक्ति का जैसा प्रचुर प्रचार-प्रसार होता है वैसा अन्य किसी प्रकार से नहीं होता।

भक्त पर अनुग्रह के लिये—भागवत में भगवान् ने स्वयं ही कहा है कि जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन धीरे से हरण कर लेता हूँ—

> यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
> (भाग० १०।८८।८)

यहाँ धन-हरण अन्य संकटों का भी सूचक है। धनादि का अपहरण हो जाने पर उसके स्वजन भी उसका परित्याग कर देते हैं। तब भक्त विरक्त होकर संतों में अनुरक्त होकर भगवद्-अनुग्रह से सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। यह सब बातें

भागवत के उसी प्रसंग में कही हैं। पाठक उसे अवश्य पढ़ें। इस प्रसंग को स्पष्ट समझने के लिये संस्कृत भाषा का ज्ञान रखनेवाले भागवत १०।८८।८ तथा ११।६।२९ श्लोकों पर विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका का मनोयोग से अध्ययन करें।

दान-पुण्य से दुःख-दारिद्र्य का नाश

शङ्का—'सुख सम्पति तिमि बिनहिं बुलाये।
पुण्यशील पहिं जाहिं सुभाए॥

इस चौपाई में कहा है कि पुण्यशील के पास सुख-सम्पत्ति बिना बुलाये स्वभाव से ही जाती है। परन्तु पुराणों में तथा लोक में इस समय भी अनेकों ऐसे पुण्यशील पुरुष देखने-सुनने में आते हैं जो दुःख-दारिद्र्य के कारण वर्षों से पीड़ित हैं।

समाधान—न्यायोपार्जित धन का दान ही कल्याणकारी होता है। अन्याय से प्राप्त द्रव्य से जो पारलौकिक कर्म करता है, उसको उसका फल प्राप्त नहीं होता। ऐसा वृद्धशातातपस्मृति के ६२ वें श्लोक में कहा है—

> द्रव्येणान्यायलब्धेन यः करोत्यौर्ध्वदैहिकम्।
> न तत्फलमवाप्नोति तस्यार्थस्य दुरागमात्॥

न्यायप्राप्त द्रव्य का दान भी श्रद्धापूर्वक प्रयाग आदि पवित्र देश में पौर्णमासी आदि शुभ काल में तथा सदाचारी ब्राह्मण आदि उत्तम पात्र में दिया सात्त्विक दान ही कल्याणकारी होता है, राजस तथा तामस दान नहीं। देखो गीता अध्याय १७ के २०-२१-२२ श्लोक।

> देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्।
> (गीता १७।२०)

प्रयाग तीर्थ में, कुम्भ पर्व पर, सदाचारी क्षुधापीड़ित ब्राह्मण की एक दिन की क्षुधा निवृत्ति के लिये कोई अति निर्धनी न्याय से प्राप्त अन्न का दान कर देता है, स्वयं भूखा रह जाता है। उसी तीर्थ में उसी पर्व पर, उसी ब्राह्मण को एक वर्ष की क्षुधा निवृत्ति के लिये कोई अतिधनी न्याय से प्राप्त अन्न का दान कर देता है। इनमें से अति निर्धन का दान अति कल्याणकारी होगा, क्योंकि दान की मात्रा कम होने पर भी अति निर्धन को २४ घन्टे भूख का कष्ट सहन करना पड़ा, अति धनी को एक घन्टे भी नहीं। छान्दोग्य-परिशिष्ट में कहा है कि (शास्त्रविधि से किये गये दान, तप आदि में) जहाँ कष्ट अधिक होता है वहाँ श्रेय (कल्याण) भी अधिक होता है, क्योंकि कष्ट से ही श्रेय की प्राप्ति होती है--

यत्र स्यात् कृच्छ्रभूयस्त्वं श्रेयसोऽपि मनोषिणः।
भूयस्त्वं ब्रुवते तत्र कृच्छ्राच्छ्रेयो ह्यवाप्यते ॥

(गोभिलस्मृ २।१३)

इसी नियम के आधार पर युधिष्ठिर महाराज का यज्ञ, जिसमें लाखों ब्राह्मणों ने भोजन किया था, उस यज्ञ की अपेक्षा बहुत दिन भूखे रहकर एक ब्राह्मण को कराया गया सत्तू का भोजन रूप सत्तू-यज्ञ श्रेष्ठ माना गया। ऐसी कथा महाभारत में आती है। अतः दान-पुण्य के बारे में उपर्युक्त बातें भी ध्यान में रखनेयोग्य हैं।

शङ्का—जैसा कुछ दान-पुण्य के बारे में ऊपर आपने विवेचन किया है उस पर पूरा ध्यान रखकर दान-पुण्य करनेवाले महान् पुरुषों के दुःख-दारिद्रय का वर्षों तक जब नाश नहीं हुआ तब उन्होंने अपने मुख से ही दान-पुण्य की निन्दा करते हुए उसे ढोंगमात्र कहा। अर्वाचीन लोगों ने ही नहीं किन्तु प्राचीन पुराणों में भी ऐसी कथाएँ आती हैं। अतः कैसे माना जाय कि दान-पुण्य से दुःख-दारिद्रय का नाश होता है?

इसी प्रकार जो माता, पिता और गुरुजनों की सच्चे हृदय से सेवा करते हैं, उन्हें उनके माता-पिता का समत्व होने के कारण तथा पुत्र के दुःख-दारिद्रय से स्वयं अन्न-वस्त्र का अति कष्ट पाने के कारण सच्चे हृदय से नित्यप्रति सुखी-धनी होने का आशीर्वाद देते हैं, तो भी वर्षों तक पुत्र के दुःख-दारिद्रय का नाश नहीं होता, अतः माता, पिता आदि के आशीर्वाद से दुःख-दारिद्रय का नाश होता है, यह कैसे माना जाय?

समाधान—जन्मान्तर के पापों का फल है दुःख-दारिद्रय। अतः जितने अधिक या जितने बड़े पाप के फलरूप में दुःख-दारिद्रय प्राप्त हुआ है, उसको नष्ट करने के लिये जब उतना अधिक या उतना बड़ा पुण्य उत्पन्न हो जाता है तभी दुःख-दारिद्रय का नाश होता है। ऐसा न होने पर वर्षों तक या जीवन भर दुःख-दारिद्रय का नाश नहीं होता। पिछले पापों के नाशयोग्य पुण्य उत्पन्न होने के बाद भी यदि दान-पुण्य करता रहे तो सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। उसमें भी यदि पुण्य उत्कृष्ट हो और शीघ्र ही परिपक्व हो जाय तो उसी समय में, नहीं तो जन्मान्तर में सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। प्रायः पुण्य-पापों का परिपाक जन्मान्तर में ही होता है, अतः पुण्यात्मा भी इस जन्म में दुःख-दारिद्रय से पीड़ित तथा पापात्मा भी सुख-सम्पत्ति से सम्पन्न देखने में आते हैं। इस रहस्य को समझ लेने पर दान-पुण्य से तथा माता-पितादि की सेवा से दुःख-दारिद्रय का नाश होता है, इस शास्त्रीय सिद्धान्त को मानने में कोई शङ्का न होगी।

धर्म परिवर्तन की चर्चा

कुछ हरिजन धर्म का परिवर्तन करके मुसलमान बन गये। इससे धर्म-परिवर्तन पर चर्चा चल पड़ी। मुझसे भी इस पर विचार प्रकट

करने को कहा गया। मेरा तो कहना यह है कि जो व्यक्ति या जाति या समाज भयभीत होकर अथवा धन, मान-सम्मान आदि प्रलोभनों द्वारा धर्म-परिवर्तन करते या करवाते हैं वे दोनों ही धर्म के स्वरूप को न तो समझते ही हैं और न धर्म पर आस्था ही रखते हैं।

जिससे अभ्युदय अर्थात् लौकिक उन्नति तथा निश्श्रेयस अर्थात् पारलौकिक उन्नति की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। ऐसा धर्म का स्वरूप बताया है—'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः'। इसमें भी पारलौकिक उन्नति ही धर्म का मुख्य लक्ष्य है। इसे छोड़कर लौकिक उन्नतिरूप अमुख्य लक्ष्य अर्थात् धन, मान-सम्मान आदि की प्राप्ति के लिए जो धर्म का परिवर्तन करते कराते हैं, उन्हें भला धर्मस्वरूप-मर्मज्ञ या धर्मस्थ कैसे कहा जा सकता है ?

पारलौकिक उन्नति में भी परमात्मा की प्राप्ति ही धर्म का मुख्य लक्ष्य है। परमात्मा की प्राप्ति में मुख्य साधन है सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि नियमों का पालन करते हुए भगवन्नाम का जप तथा ध्यान करना। यह मुख्य साधन सभी धर्मों में समानरूप से सभी को मान्य है। धर्म के इस मर्म को जाननेवाला कोई भी व्यक्ति या समाज क्यों किसी को भय या प्रलोभन देकर धर्म का परिवर्तन करेगा या करायेगा ? स्वेच्छापूर्वक हिन्दू से मुसलमान या मुसलमान से हिन्दू बनने की प्रार्थना करनेवालों को भी उक्त प्रकार से धर्म का मर्मज्ञ महापुरुष यही कहेगा कि तुम्हें धर्म-परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं। अपने धर्म में रहकर ही सत्य आदि नियमों के पालनपूर्वक अल्ला, भगवान् का नाम जप तथा भजन-ध्यान करने से ही भगवान् की प्राप्तिरूप अलौकिक मुख्य लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा। यही कारण है कि भगवान् कृष्ण के रूप, गुण से स्वयं आकृष्ट मुसलमान रहीम, रसखान आदि महान् सन्तों को भी किसी हिन्दूधर्ममर्मज्ञ महापुरुष ने हिन्दू बन जाने का आग्रह नहीं किया। वे मुसलमान रहते हुए भी

भगवान् के महान् भक्त हुए। हिन्दुओं ने तुलसीदासजी जैसे महान् सन्तों के समान उनका सम्मान किया और आज भी उनके शिक्षाप्रद दोहों, पदों का गान, मुद्रण तथा पाषाणों में खुदान करके सम्मान कर रहे हैं।

ऊपर लिखी बातों से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म-परिवर्तन करने करानेवाले धर्ममर्मज्ञ धर्मस्थ महापुरुष नहीं होते, किन्तु इसके विपरीत धन तथा मान-सम्मान लोलुप ही होते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि औरङ्गजेब आदि मुसलमान एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तीरकमान और तलवार लेकर ही हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में सफल हुए। अंग्रेज एक हाथ में धन दूसरे हाथ में बाइबिल लेकर ही ईसाई बनाने में सफल हुये। आज भी प्रायः इन्हीं निन्दनीय उपायों को काम में लाकर धर्मपरिवर्तन किया कराया जा रहा है। यदि सचमुच ही इन लोगों के हृदय में धनहीन हरिजनों की धनहीनता को मिटानारूप दयालुता हेतु होती तो अपने धनहीन मुसलमानों की धनहीनता मिटाने की दयालुता प्रथम करते। इस बात पर धर्मपरिवर्तन करनेवाले हरिजन भी ध्यान नहीं देते। प्रायः धन के प्रलोभन से ही धर्म परिवर्तन कर रहे हैं। यह धन तथा मान-सम्मान चार दिन के बाद समाप्त होकर अन्य धनहीन मुसलमानों के समान हो जायँगे, इस पर भी उनका ध्यान नहीं जाता।

कुछ राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक लोग इस अवसर का लाभ उठाने के लिए कहते हैं कि सवर्ण हिन्दू अपने मन्दिरों में हरिजनों को नहीं जाने देते, उन्हें स्पर्श नहीं करते, इन कारणों से हरिजन अपने दीन-हीन भाव के बन्धन से मुक्त होने के लिए धर्म-परिवर्तन कर रहे हैं, प्रलोभन से नहीं। उनका यह कथन कहीं एकाध स्थल पर भले ही सत्य हो, ९९ प्रतिशत तो प्रलोभन ही हेतु है। आज तो सरकार के विधानानुसार प्रायः मन्दिर हरिजनों के लिये भी खुल गये हैं। स्पर्श न करने की बात भी पूर्वकाल जैसी नहीं रह गई। जब

ये दोनों बातें चरमसीमा पर थीं तब सैकड़ों वर्ष पूर्व भी हरिजनों ने दीन-हीन भाव से मुक्त होने के लिये स्वेच्छा से नहीं, किन्तु भय या प्रलोभन से ही धर्मपरिवर्तन किया कराया था। इतिहास इसका साक्षी है। हिन्दू-धर्मंमर्मज्ञ धर्मस्थ जनता तो अनेकों कष्ट सहकर कश्मीर में भी हिन्दू ही रही और अब भी हिन्दू है। धर्ममर्मज्ञ कश्मीर के हिन्दू राजा ने ९० प्रतिशत मुसलमान जनता का भी हिन्दू जनता के समान पालन किया, इसे कौन नहीं जानता ? यहाँ तक धार्मिक दृष्टि से धर्म-परिवर्तन पर विचार प्रकट किये हैं।

कुछ लोग कहते हैं यह सब ठीक है तो भी इस दूषित धर्म-परिवर्तन को रोकने का क्या उपाय है ? इसका उत्तर यही है कि सरकार के हाथ में सत्ता होती है वही इसे कानून बनाकर रोक सकती है। धर्माचार्य तो 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (गीता ३।३५) अर्थात् 'अपने धर्म में मर जाना हितकर है' इस गीता वचन के आधार पर जनता को स्वधर्मनिष्ठ बनाने में कुछ सहयोग ही कर सकते हैं।

इच्छामात्र से प्रभु दर्शन

शङ्का—एक सन्त के सत्संग में सुना था कि संसार के पदार्थ इच्छामात्र से किसी को नहीं मिल सकते, किन्तु प्रभु की प्राप्ति या दर्शन इच्छामात्र से ही सभी को हो सकते हैं। उनके यह वचन सुन कर प्रभु-दर्शन की मंद इच्छा प्रबल हो गई; २० वर्ष बीत जाने पर भी प्रभु का दर्शन नहीं हुआ। सन्त से जब इसका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा कि प्रभु-दर्शन के लिए जैसी अति प्रबल इच्छा होनी चाहिए वैसी न होने के कारण दर्शन नहीं हुआ। मैंने पूछा कि वैसी अति प्रबल इच्छा क्यों नहीं होती ? सन्त ने कहा कि अन्तःकरण शुद्ध न होने से। मैंने पूछा अन्तःकरण शुद्ध कैसे हो ? संत ने कहा कि साधना करने से। मैंने कहा तब तो घूम फिरकर बात यही

निकली कि साधना से प्रभु का दर्शन होगा, इच्छामात्र से नहीं। मेरी बात सुनकर संत चुप हो गये। अतः आप से प्रार्थना है कि कृपया यह बतायें कि प्रभुदर्शन साधना से होता है या इच्छा-मात्र से ?

समाधान—श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में श्रीनारदजी ने व्यासजी से अपने पूर्वजन्म के चरित्र का वर्णन किया है। उस पर गम्भीरता से विचार करने पर आप की शङ्का का समाधान हो जायेगा। अतः सक्षेप में उसका भावार्थ लिख रहा हूँ। विस्तार से पूरा प्रसंग तो ग्रन्थ में ही पढ़ना चाहिए।

नारदजी ने कहा—व्यासजी ! मेरी माँ वेदवादी भिक्षुकों की सेवा करती थी। उनकी आज्ञा से मैं उनका जूठन खा लेता था। इससे मेरी रुचि भगवद्धर्म में हो गई। सर्प के काटने से माँ शीघ्र ही मर गई। इसे मैंने भगवान् का अनुग्रह माना। घने जंगल में जाकर मैंने भिक्षुकों से जैसा सुना था उसके अनुसार साधना की। ध्यान की साधना करते हुए मुझे हृदय में भगवान् का एक बार दर्शन हुआ। फिर उसे देखने की प्रबल इच्छा से व्याकुल होकर मैंने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु फिर दर्शन नहीं हुए—

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः॥

(भा० १।६।२०)

तब आकाशवाणी हुई कि इस जन्म में तुम्हें मेरा दर्शन नहीं होगा; क्योंकि जिनके कषाय अर्थात् पाप नष्ट नहीं हुए, उनके लिये मेरा दर्शन दुर्लभ है—

हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान् न मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥

(भा० १।६।२२)

इस प्रसंग को ध्यान से पढ़कर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नारदजी को प्रथम क्षणिक दर्शन जो हुआ था, वह भी केवल दर्शन की इच्छामात्र से नहीं हुआ था; किन्तु भिक्षुकों की बताई ध्यानरूप साधना करने पर हुआ था।

ऊपर लिखे पहले श्लोक के "दिदृक्षु" तथा "आतुरः" ये दोनों पद ध्यान देने योग्य हैं। "आतुरः" यह पद बता रहा है कि नारदजी के हृदय में दर्शन की इच्छा अति प्रबल थी, जिसकी पूर्ति न होने से वे आतुर अर्थात् व्याकुल हो गये थे। नारदजी की इस दशा पर तथा आकाशवाणी के कथन पर मिलाकर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अति प्रबल इच्छा होने पर भी जब तक **साधना** द्वारा पाप नष्ट नहीं हो जाते, तब तक दर्शन नहीं होता। पापों की तथा साधना की तारतम्यता के कारण इसमें एक या अनेक जन्म भी लग सकते हैं। यह बात गीताजी में भी कही है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता ६।४५)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते॥

(गीता ७।१९)

अर्थ—प्रयत्नपूर्वक **साधना** करनेवाला पापों से शुद्ध हुआ योगी अनेक जन्म में सिद्ध होकर तब परगति को प्राप्त होता है। बहुत जन्म के अंत में ज्ञानवान् मुझे प्राप्त होता है।

अतः यदि कहीं एक जन्म में संसिद्धि देखने और सुनने में आती हो तो वहाँ भी यही समझना चाहिए कि इसने अन्य जन्मों में भी साधना की है। ऐसी दशा में "इच्छामात्र से प्रभु के दर्शन हो जाते हैं" संत के इस वचन का अर्थ भी यही समझना चाहिए कि "इच्छा

के बिना साधना में प्रवृत्ति ही नहीं होगी, तब दर्शन कैसे होगा?" इस दृष्टि से संत ने इच्छा को दर्शन में कारण कहा है।

प्रार्थना की सफलता-असफलता में हेतु

शङ्का—सभी साधकों को ऐसा अनुभव होता है कि बाह्य या आन्तरिक किसी समस्या का निवारण करने के लिये की गई श्रद्धापूर्ण प्रभु-प्रार्थना कभी तो शीघ्र सफल हो जाती है, कभी देरी से सफल होती है, कभी नहीं भी होती है। इतना ही नहीं किन्तु कभी प्रतिकूल फल प्राप्त होता है। सकामभाव से ही नहीं किन्तु निष्कामभाव से, स्व के लिये ही नहीं पर के लिये भी की गई श्रद्धापूर्ण प्रभुप्रार्थना कभी सफल कभी असफल हो जाती है। विशेष करके जब साधक यह प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो! मुझे सन्मार्ग-प्रदर्शक सद्‌गुरु की प्राप्ति कराओ' ऐसी प्रार्थना करने पर भी असन्मार्ग-प्रदर्शक असद्‌गुरु की प्राप्ति होती है। इसमें क्या हेतु है सो बताने की कृपा करें?

समाधान—जितने प्रबल पाप के फल के रूप में जो बाह्य या आन्तरिक समस्या सामने आती है, उतना प्रबल पुण्य जब प्रार्थना से उत्पन्न हो जाता है तब समस्या का निवारण होता है। यही कारण है कि प्रभुप्रार्थनारूप स्तोत्र-पाठ, मृत्युञ्जय-जप आदि की संख्या में तारतम्य का विधान पापानुसार किया गया है। इसीलिए कभी शीघ्र कभी देरी से सफलता मिलती है। इसमें श्रद्धा का तारतम्य भी हेतु होता है।

जिस अति प्रबल प्रारब्ध का निवारण न होने का नियम प्रभु ने स्वयं ही बना दिया है, उसका जब उदय होता है तब सफलता नहीं ही प्राप्त होती। इसमें प्रभु की असमर्थता हेतु नहीं, किन्तु स्वकृत-

मर्यादा का पालन ही हेतु है। यही हेतु अति प्रबल स्वभाव के न बदलने में भी होता है।

देवताओं से की गई प्रार्थना का प्रतिकूल फल प्राप्त होने में हेतु होता है नियम का विधिवत् पालन न होना। प्रभु से की गई प्रार्थना का प्रतिकूल फल प्राप्त होने में हेतु होता है साधक का हित। यही कारण है कि नारदजी की सुरूपप्राप्ति के लिए की गई प्रार्थना का फल कुरूप-प्राप्ति हुआ—

मुनि हित कारन कृपानिधाना।
दीन्ह कुरूप न जाय बखाना॥

(रामच. मा. १।१३२।७)

यदि भगवान् के विधान से विरुद्ध हो तो निष्काम-भाव से पर-कल्याण के लिए की गई सिद्धभक्त द्वारा श्रद्धापूर्ण प्रार्थना भी सफल नहीं होती। यही कारण है सिद्धभक्त प्रह्लाद की अपने साथियों सहित हरिवर्ष में नित्यप्रति श्रद्धापूर्ण हृदय से की गई यह प्रार्थना 'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य' (भाग० ५।१८।९) अर्थात् 'विश्व का कल्याण हो' आज तक सफल नहीं हुई।

सन्मार्ग-प्रदर्शक गुरु की जगह असन्मार्ग-प्रदर्शक गुरु की प्राप्ति में प्रायः साधक के हृदय में छिपा पद, पैसा तथा प्रतिष्ठा आदि का लोभ ही हेतु होता है। यदि कहीं सर्वदोषविनिर्मुक्त साधक को असद्गुरु की प्राप्ति हो जाय तो अगत्या फलबल से जन्मान्तरीय प्रबल दुष्टकर्म को ही हेतु माना जाता है। उस दुष्टकर्म का भोग समाप्त होते ही इसी जन्म में या जन्मान्तर में उसे सद्गुरु की प्राप्ति अवश्य हो जायेगी। क्योंकि सच्चे हृदय से की गई उसकी प्रार्थना निष्फल नहीं हो सकती।

इस प्रकार जो प्रार्थना की सफलता तथा असफलता के सम्पूर्ण रहस्यों को समझ लेते हैं, उनके हृदय में प्रार्थना पर अविश्वास कभी भी नहीं हो सकता।

धर्माधर्म मानने की आवश्यकता तथा व्यवस्था

शङ्का—धर्माधर्म मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ईश्वर तथा वेद-शास्त्र को माननेवाले ही नहीं, किन्तु न माननेवाले देशों की सरकारें भी व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति तथा सुख-शान्ति के लिए व्यक्ति, परिस्थिति, देश और काल पर ध्यान रखकर यह करो, यह न करो ऐसा कानून बनाती हैं। अन्यथा, अज्ञानी दुष्ट मनुष्य परिवार, समाज और राष्ट्र की ही नहीं किन्तु व्यक्तिगत अपनी भी सुख-शान्ति का विनाश कर लेते हैं। उक्त विधि-निषेधात्मक कानून को शास्त्रीय परिभाषा में धर्म-अधर्म के नाम से कहा जा सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की सुख-शान्ति के लिए धर्माधर्म की आवश्यकता ईश्वर तथा वेद-शास्त्र को न माननेवालों को भी है तथा सदा रहेगी।

उक्त आवश्यकता की दृष्टि से यह कानून बनाया गया कि 'किसी को गोली मारकर उसका धन हरण न करो।' प्रत्यक्ष में ऐसा करनेवाले को पुलिस पकड़ लेती है। न्यायाधीश उसे सजा या फाँसी दे देता है। यदि अपराध किसी ने एकान्त में किया, अतः पकड़ा नहीं गया, इसलिए उसे कोई कष्ट 'दण्ड' नहीं मिला। उस धन से सुख-साधन का सम्पादन कर सारा जीवन सुखमय बिताकर मर गया। यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस व्यक्ति को अपने अपराध का दण्ड कहीं कुछ मिलेगा या नहीं ? जो राष्ट्र, सरकारें जन्मान्तर

को नहीं मानती उन्हें बाध्य होकर यही कहना होगा कि जब वह मर ही गया तब उसे दण्ड मिलना सम्भव ही नहीं। इस सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाली सरकार प्रखर-दण्ड-प्रहार के कानून बना कर भी एकान्त में पापाचार से मनुष्य को रोक न सकेगी। फलतः व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र में शान्ति की स्थापना भी न हो सकेगी। इसका आज सब अनुभव करते हैं।

सुख-शान्ति की स्थापना की दृष्टि से तथा प्रत्यक्ष में किया हो या एकान्त में किया हो, पापाचार तो पापाचार ही है, उसका दण्ड मिलना ही न्याययुक्त है। इस न्याययुक्त दृष्टि से जो विचारशील नर और सरकार एकान्त के पापाचार का दण्ड मिलना स्वीकार करती है, उसे जन्मान्तर भी बलात् स्वीकार करना होगा। यहाँ यह प्रश्न होता है कि जन्मान्तर में किस देश में, किस काल में, किस शरीर में तथा किस रूप में दण्ड दिया जाय ? इन सबको जानकर दण्ड की व्यवस्था कौन करेगा ? अल्पज्ञ, असर्वज्ञ तथा असमर्थ मानव या सरकार जब इन्हें जानने में ही असमर्थ है तब जन्मान्तर में समुचित दण्डव्यवस्था कैसे करेगी ? अतः अन्त में यही स्वीकार करना पड़ेगा कि सर्वज्ञ तथा सर्वसमर्थ ईश्वर ही व्यवस्था करेगा।

ईश्वर दण्ड-व्यवस्था करेगा, इसे स्वीकार कर लेने पर भी यह प्रश्न होता है कि भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न ही नहीं, किन्तु परस्पर विरुद्ध कानून हैं। जैसे पाश्चात्य देशों में परस्पर अनुमति-पूर्वक परस्त्री-परपुरुष के आलिङ्गन चुम्बन में ही नहीं किन्तु मैथुन में भी कोई दोष नहीं माना जाता है। भारत में ही कुछ वर्ष पूर्व गर्भपात को दोष माना जाता था, अब सरकार ने गर्भपात का विधान बना दिया, अतः दोष नहीं माना जाता। इन विरुद्ध कानूनों में ईश्वर किस कानून के अनुसार दण्ड देगा ?

यदि कहा जाय कि जिस राष्ट्र का जो कानून ईश्वरीय विधान के अनुसार होगा उसके अनुसार ईश्वर दण्ड देगा। तब तो पहले यह जानना अति आवश्यक होगा कि अनादि संसार की व्यवस्था के लिए अनादि ईश्वरीय विधान का स्वरूप क्या है ? उसका प्रतिपादन किन ग्रन्थों में है ? २,४,१० हजार वर्ष पूर्व लिखे सादि ग्रन्थों से उस ईश्वरीय अनादि विधान का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि इन सादि ग्रन्थों के पूर्व किस विधानानुसार ईश्वर व्यवस्था करता था यह प्रश्न उठने पर अन्त में यही स्वीकार करना होगा कि अनादि संसार की व्यवस्था के लिए ईश्वरीय विधान भी अनादि है, उस अनादि विधान का प्रतिपादक अनादि वेद ही हो सकता है। सादि कुरानादि नहीं। (इस विषय का विस्तार से विवेचन मेरी 'वैदिकचर्या-विज्ञान' पुस्तक की भूमिका में देखें।)

कहने का तात्पर्य यह है कि एकान्त में किये सदाचार या दुराचार का जन्मान्तर में फल ईश्वर अपने ईश्वरीय विधान वेद में देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति आदि पर विचार कर कथित परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील विधानानुसार ही देगा। तभी धर्माधर्म की सम्यक् व्यवस्था हो सकेगी अन्यथा नहीं, यह मानना ही पड़ेगा। देखिये—जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न कानून हैं, इतना ही नहीं किन्तु एक ही भारत राष्ट्र में एक काल में गर्भपात निषिद्ध था, एक काल में विहित हो गया। इतना ही क्यों, वर्तमान काल में ही सत्तारूढ़ दल जिसे उचित मानकर विधान करता है, विरोधी दल उसका विरोध करता है। सत्तारूढ़ दल में भी मतभेद होता है। अतः इनका दल-बल बढ़ने पर विधान बदल देता है। जो सत्तारूढ़ नहीं ऐसे अनेकों धर्म-अधर्म के मर्मज्ञ सन्तसमाज विशेषज्ञ हैं, उनके कथन को केवल इसलिये अमान्य करना कि वे सत्तारूढ़ नहीं, ठीक न होगा।

तात्पर्य यह है कि राष्ट्रों, सत्तारूढ़ दलों, विरोधी दलों तथा समाज-विशेषज्ञों के विचारों में इतना अधिक मतभेद तथा परिवर्तन-

शीलता है कि उनके अनुसार धर्माधर्म की सम्यक् व्यवस्था करते हुए जन्मान्तर में उनका फल देना ईश्वर के लिये भी सम्भव नहीं। देखिये—जिस काल में गर्भपात कानून-विरुद्ध था उस काल में किसी ने एकान्त में गर्भपात किया, उसके दूसरे दिन ही गर्भपात का कानून बन गया। अब बेचारा ईश्वर भी उसे कैसे दण्ड देगा? अतः एकान्त में किये धर्माधर्म का जन्मान्तर में फल ईश्वर भी तभी दे सकेगा जब कानून ईश्वरीय विधानानुसार हो, तभी धर्माधर्म की सम्यक् व्यवस्था होगी। व्यक्तियों के मनमाने विचारों से तथा राष्ट्रों के मनमाने कानूनों से धर्माधर्म की व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं हो सकती।

ऊपर दिये विचार से यह निर्णय हो जाता है कि जो सरकारें या नर देह को ही कर्ता भोक्ता मानते हैं, उसी के लिये इस जन्म में तथा इस लोक में ही दण्डादि की व्यवस्था करते हैं, उनकी व्यवस्था अधूरी है। देह से पृथक् आत्मा मानकर जन्मान्तर में तथा परलोक में भी दण्डादि की व्यवस्था करनेवाले वैदिकों की सनातन धर्मानुसार की गयी व्यवस्था ही पूर्ण है।

गुणहीन विप्र पूज्य है या नहीं ?

शङ्का—सापत ताडत परुष कहंता।
बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना।
सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।।

(३।३३।१)

इन चौपाइयों को पढ़कर स्पष्ट लगता है कि तुलसीदासजी

ब्राह्मण थे इसलिए उन्होंने ब्राह्मण का पक्षपात किया तथा शूद्र के साथ अन्याय किया।

समाधान—शास्त्र के किसी वचन का तात्पर्य समझने के लिये प्रकरण पर ध्यान देना आवश्यक होता है। यहाँ दुर्वासा जैसे अति तेजस्वी ब्राह्मण का प्रसंग है, साधारण ब्राह्मण का नहीं। देखिये—

दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा।
प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा।।

(३।३२।४)

प्रकरण के अनुसार विचार करने पर यहाँ यह तात्पर्य निकलता है कि जो ब्राह्मण तप-तेज से युक्त हैं, जिनसे संसार को अनेकानेक लाभ होते हैं, शाप-वरदान देने में समर्थ हैं इत्यादि अनेकानेक महान् गुणों से सम्पन्न हैं, यदि उनमें एक शीलगुण न भी हो तो भी वे पूज्य ही हैं।

लोक में भी जो व्यक्ति अपने अनेकों गुणों के कारण राष्ट्र को अनेकानेक लाभ पहुँचा रहा है, इसलिए जनता ने उसे राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री पद पर आरूढ़ किया है। वह व्यक्ति एक शील गुण-हीन होने के कारण क्रोधवशात् कभी किसी अपराधरहित साधारण नौकर आदि को यदि गाली दे दे या मार दे, तो भी बुद्धिमान् मानव नौकर को ही चुप होने, क्षमा माँगने, सामने से हट जाने को कहते हैं, बदले में गाली देने तथा मारने को उचित नहीं मानते। इसका एकमात्र कारण यह है कि बदले में यदि नौकर मार दे उससे चोट लग जाये, १०-२० दिन अस्पताल में रहना पड़े या वह मर जाये तो राष्ट्र की महान् हानि होगी। नौकर का अपराध हो तब तो चुप होना, क्षमा माँगना सर्वथा ही उचित है।

दुर्वासा ऋषि भी तपतेजसम्पन्न, शाप-वरदान देने में समर्थ भगवान् शङ्कर के अंशावतार थे, उनसे संसार को अनेकानेक लाभ प्राप्त थे। अतः ऐसे अनेकानेक गुणसम्पन्न ब्राह्मण में यदि एक शीलगुण न होने के कारण कभी किसी को क्रोधवश शाप दे या मार दे तो भी अपराधरहित साधारण व्यक्ति को भी चुप हो जाने तथा पूजा करने को कहना ही उचित माना जायेगा, बदले में गाली देना या मारना अनुचित माना जायेगा। गन्धर्व ने तो दुर्वासा की हंसी उड़ा कर अपराध भी किया था। अतः तुलसीदासजी का अनेकानेक गुण-सम्पन्न, एक शीलगुण हीन ब्राह्मण की पूजा करने को भगवान् राम द्वारा कहलाना सर्वथा उचित है। यदि अपराधी गन्धर्व शापदाता दुर्वासा की क्षमायाचना द्वारा पूजा न करता, बदले में कुछ और कहता तो दुर्वासा उसे एक और भयंकर शाप दे देते जिससे गन्धर्व की महादुर्गति होती। अतः प्रकरणानुसार विचार करने पर यही तात्पर्य निकलता है कि तपतेजसम्पन्न ब्राह्मण के सामने अपराधी को ही नहीं निरपराधी को भी चुप ही रहना चाहिए।

शङ्का—उक्त चौपाइयों के आधार पर समाज में जो यह धारणा प्रचलित है कि ब्राह्मण चाहे जैसा हो तो भी पूज्य है, इस धारणा का क्या कारण है?

समाधान—पहले प्रायः सभी ब्राह्मण तपतेजसम्पन्न ही होते थे, इसलिए 'ब्राह्मणमात्र पूज्य है' यह धारणा प्रचलित हो गई। वस्तुतः तपतेजहीन ब्राह्मण यदि किसी को मारते हैं तो दण्ड के पात्र ही होते हैं। यही कारण है कि जब एक ब्राह्मण ने क्रोध में आकर शूद्र मनुष्य को नहीं किन्तु पशुओं में भी चाण्डाल माने जानेवाले कुत्ते को मार दिया था तो उस कुत्ते की इच्छानुसार उस ब्राह्मण को महन्त बनादेने का दण्ड रघुनाथजी ने दिया था। इतना ही नहीं किन्तु आततायी ब्राह्मण रावण का वध स्वयं रामजी ने ही किया था।

यदि तपतेजादि गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण भी कभी अभिमान में आकर भगवान् के भक्त का अपमान करने लगे तो भगवान् उसके लिए भी स्वयं ही दण्डविधान करते हैं। देखिये, इन्हीं दुर्वासा ऋषि ने जब अम्बरीष भक्त का अनिष्ट करना चाहा तो चक्रसुदर्शन चल गया। अन्त में कहीं शरण न मिलने पर जब दुर्वासा प्रभु की शरण गये तो प्रभु ने उन्हें समझाते हुये कहा कि—साधु पर किया प्रहार, प्रहार करनेवाले का ही संहार करता है। तप-विद्या ये दोनों विप्रों के लिए कल्याणकारी हैं, परन्तु दुर्विनीत के लिए वे ही अकल्याणकारी होते हैं। अतः महाभाग अम्बरीष से क्षमा मांगो तभी शान्ति होगी। देखिये भागवत के ये श्लोक—

साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम् ॥

(भाग० ९।४।६९)

तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे ।
ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥

(भाग० ।४।७०)

क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥

(भाग० ९।४।७१)

शङ्का—प्रसङ्गानुसार आप का दिया समाधान बहुत ही सन्तोष कारक है। तो भी यह शङ्का होती है कि 'गुण-गण-प्रवीण शूद्र की पूजा नहीं करनी चाहिए' ऐसा कहने का यहाँ क्या प्रसङ्ग है। इससे तो शूद्रों का महान् अपमान किया गया।

समाधान—

'नहि निन्दा निन्द्यस्य निन्दार्थम्, अपितु प्रकृतस्य प्रशंसार्थम्'

अर्थात् जब किसी की प्रशसा के अवसर अन्य की निन्दा की जाती है, तब वह निन्दा अन्य की निन्दा के लिए नहीं की जाती, किन्तु प्रशंनीय की प्रशंसा में उसका तात्पर्य होता है। इस नियमानुसार यहाँ शूद्र की निन्दा, निन्दा के लिए नहीं, किन्तु ब्राह्मण की प्रशंसा का जो प्रसङ्ग चल रहा है उसकी प्रशंसा में ही तात्पर्य है। अतः यहाँ शूद्र का जरा भी अपमान नहीं किया गया। जैसे लोक में वैद्य एक दवा देकर उसकी प्रशंसा करता हुआ कह देता कि इस दवा के सामने और सभी दवायें राख के समान हैं। वैसे ही यहाँ समझना चाहिए।

महाभारत में तो स्पष्ट ही कहा कि शीलहीन श्रेष्ठ (ब्राह्मण) की पूजा नहीं करे, किन्तु सदाचारी धर्मज्ञ शूद्र की भी पूजा (अर्थात् आदर) करे—

ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत् ।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत् ॥

(अनुशासनपर्व ४८।४८)

यही कारण है कि विदुर, धर्मव्याध आदि शूद्रों का महान् सम्मान किया जाता था। निष्पक्षभाव से इस प्रकार प्रकरणानुसार शास्त्रतात्पर्य निर्णायक आधार पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदासजी ने न तो ब्राह्मणों का पक्षपात किया है और न शूद्रों के साथ अन्याय ही किया है।

भ्रष्टाचार के मूलाधार

अविकसित या अर्धविकसित देशों में ही नहीं, किन्तु विकास के आकाश पर आरूढ़ देशों में भी धुँआधार भ्रष्टाचार का प्रसार हो रहा है। जिससे मनुष्य का तन-मन रोगापन्न होता जा रहा है।

भोग-साधन-सम्पन्न होने पर भी मनुष्य खिन्न (दुःखी) होता जा रहा है। अतः भ्रष्टाचार का प्रसार न हो इसके लिए सरकार दण्ड-प्रहार को द्वार बनाकर नर-नारी का सुधार करना चाहती है। किन्तु भ्रष्टाचार के मूलाधार पर गंभीर विचार किये बिना दण्डप्रहारमात्र से सरकार भी सुधार न कर सकेगी। अतः भ्रष्टाचार के मूलाधार और उनके सुधार के कारगर उपाय पर ही यहाँ विचार करते हैं।

दर्शन—भौतिक विज्ञान ने मनोरंजन का साधन सिनेमा प्रदान किया। जिसके देखने से नर-नारी के मन में कामादि विकार का प्रचुर प्रसार हुआ। इस सत्य तथ्य को आज सभी स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि फिल्मकार अपनी फिल्म के प्रचुर-प्रसार के लिये काम विकारवर्धक तथा हिंसाप्रदर्शक फिल्मों का निर्माण अधिक करते हैं। सिनेमा से भी अधिक हानिकर टेलीविजन हो रहा है, क्योंकि सिनेमा को देखने प्रतिदिन नहीं जाते, टेलीविजन तो रोज ही देखते हैं। यदि ट्रांजिस्टरों में टेलीविजन आ गया तो उससे और अधिक हानि होगी। क्योंकि तब ग्रामों में, जंगल के झोपड़ों में भी प्रतिदिन देखेंगे। जिन वस्तुओं का स्त्री से कोई सम्बन्ध नहीं, उन वस्तुओं के विज्ञापनों में भी काम-विकार-संचारक रूप में स्त्रियों के चित्रों का प्रदर्शन भी विकार बढ़ाता है।

श्रवण—कामादि विकारवर्धक संगीतों का रेडियो, ट्रांजिस्टरों तथा लाउडस्पीकरों द्वारा दिन-रात प्रसार होना भी भ्रष्टाचार में मददगार हो रहा है। युवकों-युवतियों के मन पर ही नहीं, किन्तु बालक-बालिकाओं के मन पर भी इसका बुरा असर पड़ रहा है। वे छोटे बच्चे इन्हें सुनकर गाते रहते हैं, यद्यपि कुछ भी उनका अर्थ समझते नहीं, तथापि उनका संस्कार उनपर असर कर जाता है। जिसका फल यह होता है कि युवावस्था से पूर्व ही उनमें कामविकार का संचार हो जाता है। इसी प्रकार सिनेमा, टेलीविजन तथा विज्ञापनों में आलि-

गन-चुम्बन कामविकारवाले चित्रों का बालक-बालिकाओं द्वारा देखा जाना तो कामविकार के संचार में कामुक संगीतों से भी अधिक मददगार होता है।

भोजन—प्याज-लहसुन, मांस-मदिरा, मत्स्य-मुर्गा, मिर्च-मसाला आदि राजस-तामस भावों को बढ़ानेवाले पदार्थों को खाने से मन में कामादि विकार का संचार अधिक होता है। दुर्भाग्यवश स्वास्थ्य-सुधार को आधार बनाकर सरकार भी इनका प्रचुर-प्रचार कर रही है।

सौन्दर्य प्रसाधन—तन की सुन्दरता प्रदर्शित करने के लिए नर का प्रतिदिन क्षौर-कर्म करना, नारी का मुख में पाउडर लगाना, होठों तथा नाखूनों को लाल करना, स्तनों को ऊँचा उठा कर दिखाना, गला-पीठ, उदर और कमर को खुला रख कर बदन दिखाना, चमकीले-भड़कीले, चित्र-विचित्र रङ्गीन महीन कीमती वस्त्र पहनना आदि सौन्दर्य के साधन भी विकार बढ़ाते हैं।

मकान की सुन्दरता के लिए मेज, कुर्सी, कालीन, कामुक चित्र, मूर्ति आदि प्रसाधन से मकान सजाना भी भ्रष्टाचार के प्रसार में मददगार होता है। क्योंकि इन कार्यों के लिए अधिक धन की आवश्यकता होती है। जब उतना धन ईमानदारी की कमाई से प्राप्त नहीं होता, तब बेईमानी, घूसखोरी, चोर-डकैती आदि भ्रष्टाचार को द्वार बनाकर भी मनुष्य धन प्राप्त करता है। वर्तमान में यह बात किसी से छिपी नहीं है, इसलिए इस पर अधिक विचार नहीं किया जाता।

बाल्यावस्था से ही बालक-बालिकाओं को ऊपर लिखे सौन्दर्य प्रसाधनों से तन एवं मकान को सजाकर रखने से वे उनके अभ्यासी हो जाते हैं। जब वे युवावस्था में व्यापारी या कर्मचारी या पदाधिकारी बनते हैं, तब उनको यह शिक्षा देना कि 'अपनी आमदनी के अनुसार

सादगी से रहो, बेईमानी, चोरी, घूसखोरी आदि भ्रष्टाचार न करो' सर्वथा बेकार होता है। क्योंकि तीव्रगति से चलती गाड़ी को जैसे एकदम रोका नहीं जा सकता, वैसे ही बाल्यावस्था से चली आ रही आदतों को भी एकदम रोका नहीं जा सकता।

सहशिक्षा—२०-२५ वर्ष तक के युवकों-युवतियों की सहशिक्षा का कार्य भी व्यभिचार-बलात्कार के प्रचुर प्रचार-प्रसार में बहुत ही मददगार हुआ है। क्योंकि युवती को पास में देखकर युवक का वीर्य वैसे ही पिघल जाता है, जैसे अग्नि पास रखने से घी पिघल जाता है। इसलिए अति आवश्यक कार्य के बिना अपनी बेटी के पास भी एकान्त में न रहे, ऐसा भागवत में स्पष्ट कहा है—

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान् ।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥

(भाग० ७।१२।९)

सहकार्य—ऊपर लिखित दोष के कारण ही कर्मचारी, पदाधिकारी या व्यापारी के रूप में पर-नर-नारी का साथ-साथ रहकर कार्य करना भी भ्रष्टाचार का प्रसार करता है। क्योंकि पर-नर-नारी का कर्मचारी आदि के रूप में प्रतिदिन वर्षों एक साथ काम करने पर हँसना, बोलना तथा स्पर्श करना अनिवार्य हो जाता है। जिससे काम विकार का उभार होकर व्यभिचार-बलात्कार होता है। सुन्दरी स्त्री कर्मचारी को तो बड़े पदाधिकारी यदि उसे व्यभिचार या बलात्कार का शिकार नहीं बना पाते तो मिथ्यादोषारोपण, स्थान-परिवर्तन, वेतन न देना आदि दुष्ट उपायों से इतना अधिक परेशान कर डालते हैं कि उसका जीवन ही बरबाद हो जाता है।

देरी से विवाह—नर-नारी को प्रकृति जब विवाह की योग्यता प्रदानकर दे उस समय विवाह न करने पर प्रकृति उन्हें बलात् व्यभि-

चार या बलात्कार में 'वैसे ही लगा देती है, जैसे जोर की भूख घर पर शुद्ध भोजन न मिलने पर होटल के अशुद्ध भोजन में लगा देती है। प्राचीन शरीर-विज्ञान ने ही नहीं किन्तु नवीन शरीर-विज्ञान ने भी यह स्वीकार किया है कि १३-१४ वर्ष में नारी तथा १५-१६ वर्ष में नर युवावस्था को प्राप्त हो जाता है, अतः उनमें कामविकार का संचार हो जाता है। ऐसी दशा में इसी अवस्था में विवाह न करके २०-२५ वर्ष तक अविवाहित रखने पर प्रकृतिपरवश होकर वे व्यभिचार या बलात्कार करने लगते हैं। सिनेमा, टेलीविजन, रेडियो, सौन्दर्य-प्रसाधन, सहशिक्षा, सहकार्य, मांस-मदिरा का खान-पान आदि ऊपर लिखे साधन तो कामाग्नि प्रज्वलित करने में घृत प्रदान कर देते हैं।

नारी का घर से बाहर होना—गत वर्ष नवभारत टाइम्स ने 'घर से बाहर होकर नारी ने क्या खोया क्या पाया' यह जानने के लिये नारियों से अपने विचारों को लिखने की प्रार्थना की थी। उनमें से कुछ दूरदर्शिनी बुद्धिमती स्त्रियों ने अपने अनुभव के अनुसार लिखा था कि 'नारी ने घर से बाहर जाकर घर दफ्तर दोनों को लादा सिर पर भार। बच्चों को न दे सकी माँ का प्यार दफ्तर की मर्यादानुसार किया शरीर का शृङ्गार। जिससे बनी नर की नजरों का शिकार। इस प्रकार किया नर में विकारसंचार। जिससे बनी व्यभिचार बलात्कार की स्वयं शिकार। इस प्रकार किया घर-बाहर बण्टाढार'। यह सब सत्य तथ्य है, इन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। इन्हीं सब कारणों से शास्त्रकार नारी का घर से बाहर होना स्वीकार नहीं करते।

धार्मिक शिक्षा का अभाव—केवल दण्डप्रहार के आधार पर खुले बाजार होनेवाले भ्रष्टाचार का भी सुधार होना कठिन होता है। क्योंकि दण्ड प्रहार करने के लिए नियुक्त नर भी ऊपर लिखे कारणों

से भ्रष्टाचार का भण्डार हो जाता है। अतः खुले बाजार भ्रष्टाचार करनेवालों से घूसरूप पुरस्कार पाकर तुरन्त उनसे मिलकर एकाकार हो जाता है, अतः वह दण्डप्रहार नहीं कर सकता। जहाँ कहीं कोई नर दण्डप्रहार करने में समर्थ होता है, वहाँ कोई धार्मिक शिक्षा जन्य संस्कार ही हेतु होता है। ऐसी दशा में एकान्त में भ्रष्टाचार करने-वाले नर-नारी के सुधार में धार्मिक शिक्षा जन्य संस्कार के अतिरिक्त और कोई सबल कारगर आधार नहीं हो सकता। धर्मनिरपेक्ष सरकार को इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

भ्रष्टाचार का सुधार—भ्रष्टाचार के मूलाधार पर संक्षेप से कुछ विचार ऊपर लिखे गये। इनमें भोजन, वस्त्र, विवाह आदि विषयों पर विस्तार से विचार मेरे द्वारा लिखित 'वैदिकचर्याविज्ञान' नाम की पुस्तक में देखना चाहिए। भ्रष्टाचार के मूलाधार पर ऊपर संक्षेप से जो गंभीर विचार किये गये हैं, उन्हीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवार तथा समाज के कर्णधार और सरकार जब तक इन पर गंभीरतापूर्वक विचार कर क्रमशः सुधार न करेगी और धार्मिक शिक्षा का प्रसार न करेगी, जब तक प्रखर दण्डप्रहारमात्र से सुधार न होगा।

जैसे पदाधिकारी चालक कर्मचारी (ड्राइवर) से कहे 'गाड़ी तेज करो' 'और तेज चलाओ, और वेग से चलाओ' इस प्रकार बारम्बार कह कर गाड़ी को खूब तेज चलवाये। बाद में खतरा देख कर चालक से कहे अब गाड़ी जरा भी आगे न जाने देना, नहीं तो सिर पर दण्ड प्रहार करूँगा। परन्तु पदाधिकारी सिर पर दण्ड प्रहार ही नहीं, किन्तु सिर को ही तलवार से उतार दे, तो भी गाड़ी रुकेगी नहीं आगे जायेगी ही वैसे ही ऊपर लिखे भ्रष्टाचार के मूलाधारों का प्रचुर प्रचार-प्रसार करके नर-नारी के हृदयागार में भ्रष्टाचार के संस्कार का भण्डार भर दिया जाय। बाद में खतरा

देख कर सरकार यह कहे कि व्यभिचार-बलात्कार, चोरी, घूसखोरी आदि भ्रष्टाचार करोगे तो दण्डप्रहार, आजीवन कारागार और प्राण-अपहार (फांसी) की सजा होगी। परन्तु अब सरकार के द्वारा ऐसी कठोर सजा की घोषणा भी भ्रष्टाचार को रोक नहीं सकती। इसे रोकने का एकमात्र उपाय यही है कि ऊपर लिखे भ्रष्टाचार के मूलाधारों का क्रमशः सुधार किया जाय और धार्मिक शिक्षा का प्रचुर प्रसार किया जाय।

सिनेमा, टेलीविजन, ट्रांजिष्टर आदि साधन स्वरूपतः हानिकर नहीं हैं। इनमें जो कामविकारवर्धक, हिंसा प्रदर्शक चित्रों का प्रदर्शन है, वही हानिकर है। अतः उनपर क्रमशः सुधार किया जाय और उनके स्थान पर सदाचार, शिष्टाचार तथा देशोपकार के आधार पर बनी फिल्मों का ही प्रचुर प्रचार-प्रसार किया जाय। कुछ दूरदर्शी पुरुषों ने समाचारपत्रों के माध्यम से सरकार से यह प्रार्थना अनेक बार की है कि सिनेमा, टेलीविजन में ऐसे ही चित्र दिखाने चाहिए, जिन्हें हम पुत्र-पुत्रवधू, पौत्र-पौत्रवधू, बेटी-दामाद तथा छोटे बच्चों के साथ बैठकर देख सकें। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इतनी उचित प्रार्थना पर भी सरकार ने अभी तक पूरा सुधार नहीं किया।

विद्या-प्राप्ति का शास्त्रीय उपाय

शङ्का—विद्या-प्राप्ति का शास्त्रीय उपाय क्या है ?

समाधान—विद्या = ज्ञान। अर्थी = चाहनेवाला। इस प्रकार 'विद्यार्थी' शब्द का अर्थ होता है—ज्ञान को चाहनेवाला। ज्ञान की प्राप्ति गुरु से होती है, इसीलिये श्रुति में कहा है कि तत्त्वज्ञान के लिये हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जायें—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

—मुण्डकोपनिषत् १।२।१२

उपनिषदों की सारभूता गीता में भी इसी भाव को बतानेवाला श्लोक है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

"सर्वे शब्दाः सावधारणाः" नियम के अनुसार उक्त श्रुति से निम्न भाव निकलते हैं—

"**विज्ञानार्थमेव गच्छेत्**"—अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिए ही जायें। क्योंकि अन्य किसी पदार्थ की प्राप्ति के लिये जायेगा तो वही मुख्य हो जायेगा, ज्ञान गौण हो जायेगा।

"**गुरुमेवाभिगच्छेत्**"—अर्थात् गुरु के पास ही जायें क्योंकि गुरु से प्राप्त विद्या ही सफल होती है यह बात श्रुति में स्पष्ट शब्दों में कही है—

आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति।

—छान्दोग्योपनिषद् ४।९।३

गुरु को श्रोत्रिय अर्थात् शास्त्रज्ञानसम्पन्न होना चाहिये, तभी वह शिष्य की शंकाओं का निराकरण करने तथा शास्त्रसम्मत ज्ञान का उपदेश करने में समर्थ हो सकेगा। इसीलिए श्रुति में गुरु का विशेषण "**श्रोत्रिय**" दिया है तथा गीता में "**ज्ञानिनः**" दिया है। गुरु को ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए, तभी स्वानुभूतिपूर्वक सम्यक् तत्त्वज्ञान प्रदान कर सकेगा। श्रुति में "**ब्रह्मनिष्ठ**", गीता में "**तत्त्वदर्शिनः**" गुरु का विशेषण दिया है।

"अभिगच्छेदेव" अर्थात् स्वयं ही गुरु के पास जायें, उन्हें अपने घर न बुलायें। गुरु के घर जाकर पढ़ने से गुरु का गौरव सिद्ध होता है, अपने घर बुलाकर पढ़ने में लाघव "नौकर" का भाव बनता है। इससे जीवन में विनय नहीं आता, विनय ही विद्या का लौकिक फल है—**"विद्या ददाति विनयम्"**। "नौकरों से पढ़ने के कारण ही प्रायः विद्यार्थी विनयरहित हो रहे हैं" ऐसा महापुरुषों का कथन है। विनय को लाने के लिये गीता में "प्रणिपात" शब्द का प्रयोग किया गया है।

"समित्पाणिरेव" समित् = समिधा को कहते हैं, हवन में जलाने योग्य पीपल, वट, खदिर, आम आदि पवित्र वृक्ष की लकड़ियों को। समिधा लेकर जाने का विधान इसलिये किया है कि प्राचीन काल में गुरुजन प्रतिदिन हवन करते थे, उन्हें समिधा की आवश्यकता पड़ती थी। इससे यह बताया गया है कि आवश्यक वस्तु द्वारा गुरु की सेवा करके ही विद्या अर्थात् "ज्ञान" प्राप्त करना चाहिये। इसे गीता में **'सेवया'** शब्द देकर बताया गया है।

समिधा के विधान का दूसरा प्रयोजन है कि ऐसी सेवा तो कोई गरीब भी कर सकता है। धनाभाव के कारण हमारे देश में कोई विद्या (ज्ञान) से वंचित नहीं रहता था। [आज भी, वाराणसी आदि विद्या-केन्द्र में निर्धन विद्वान् निःशुल्क विद्या-दान करनेवाले विद्यमान हैं जिसे देखकर ही १०० वर्ष पूर्व एक अंग्रेज पादरी ने कहा था कि जब तक भारत में धन-आदान के बिना विद्याप्रदान करनेवाले विद्वान् रहेंगे, तब तक ईसाई-धर्म का प्रचार-प्रसार नहीं हो सकता]।

समिधा के विधान का तीसरा प्रयोजन यह है कि राजा को भी, प्रजा की तरह, स्वयं ही हाथ में लकड़ी का गट्ठा लेकर सबके सामने से निकलना पड़ता था, तो उसका अभिमान धूलि समान हो जाता

था। अभिमान ही तो ज्ञानविज्ञान की प्राप्ति में महान् विघ्न है। अतः इसको धूलि समान करना परमावश्यक होने से धनवान के लिए भी समिधा का विधान किया गया है।

ऊपर लिखी गयी श्रुति तथा श्रुति की सारभूता गीतारूपा स्मृति के शब्दों का आधार लेकर जो भाव निकलते हैं, उनपर ध्यान देकर जो विद्यार्थी गीता आदि का अध्ययन करते हैं, उन्हें विद्या का लौकिकफल 'विनय' तथा अलौकिक फल 'परमशान्ति' अवश्य मिलते हैं—

"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति" ॥

—(गीता ४।३८)

अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य शान्ति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मज्ञानी का व्यवहार

शङ्का—ब्रह्मज्ञानी को ईश्वर की वन्दना तथा शास्त्रमर्यादानुसार आचार करना चाहिए या नहीं ?

समाधान—अपने को शंकराचार्य का अनुयायी माननेवाले किन्तु उनके अभिप्राय से अपरिचित कुछ लोगों में यह भ्रांत धारणा हो गई है कि जिन्हें अपनी ब्रह्मरूपता का साक्षात् अनुभव हो गया है अथवा जो इस पर पूर्ण विश्वास रखते हैं, उन अपरोक्ष तथा परोक्ष ज्ञानियों को ईश्वर की वंदना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ईश्वर का भी अधिष्ठान उनकी आत्मा है। इन लोगों को भगवान् शंकराचार्यजी के निम्नलिखित वचनों पर ध्यान देना चाहिए—

"यावदायुस्त्वया वन्द्यो वेदान्तो गुरुरीश्वरः।"

(तत्त्वोपदेश, ८६)

अर्थात् जब तक आयु है तुम्हें वेदान्त, गुरु तथा ईश्वर की वंदना करनी चाहिए।

तत्त्वज्ञानी होते हुए भी श्रीशंकराचार्यजी ने स्वयं भी तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रारम्भ में ईश्वर को नमस्कार किया है—

"यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते।
येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः॥"

अर्थ—जिस ईश्वर से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है और जिस ईश्वर में ही इसका लय हो जाता है तथा जिस ईश्वर द्वारा धारण किया जाता हैं, उस ज्ञानरूप ईश्वर को हम नमस्कार करते हैं।

भगवान् शंकराचार्यजी के उक्त वचनों से स्पष्ट हो जाता है कि परोक्षज्ञानी को ही नहीं अपितु अपरोक्ष ज्ञानी को भी यावज्जीवन ईश्वर की वंदना करनी चाहिए।

कुछ लोगों का कहना है कि जब एक ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, अर्थात् जब सब ब्रह्म ही है तब विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण में तथा कुत्ते में स्पर्श-अस्पर्श का भेद-व्यवहार ब्रह्मज्ञानी को नहीं करना चाहिए। कुछ लोग ऐसा व्यवहार करते भी हैं। उसे उचित सिद्ध करने के लिए गीता का प्रमाण भी देते हैं :—

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१८)

कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि जब सब ब्रह्म ही है तब 'मद्य और मांस अपेय तथा अभक्ष्य है' यह भेद भी नहीं करना चाहिए। इन लोगों से मेरा सविनय करबद्ध निवेदन है कि गीता के उक्त श्लोक में 'समदर्शिनः' अर्थात् समदर्शी होने को ही कहा

है 'समवर्तिनः' अर्थात् समान व्यवहार करने को नहीं कहा है। श्री शंकराचार्यजी ने भी 'द्रष्टुं शीलं' ऐसा ही अर्थ किया है।

'सबका स्पर्श करना, सब कुछ खाना' ऐसा व्यवहार करना संभव भी नहीं। क्योंकि विद्युत् के तारों का स्पर्श करना तथा विष (संखिया) का खाना तत्काल जीवन-नाशक होने के कारण ब्रह्मभिन्न न होने पर भी कोई भी ब्रह्म-ज्ञानी इनके साथ समान व्यवहार नहीं करता। अतः ब्रह्मज्ञानी का व्यवहार शास्त्र-मर्यादानुसार ही होना चाहिए।

समयानुसार धर्म-परिवर्तन का प्रश्न

शंका—वर्तमान विज्ञान-प्रधान समय के अनुसार यदि धर्म का परिवर्तन न होगा तो समाज में चलना महान् कठिन होगा, अतः वर्तमान समाज-विज्ञान के विद्वान् कहते हैं कि समयानुसार धर्म का परिवर्तन करना ही चाहिए। क्या यह ठीक है?

समाधान—**"यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयस्सिद्धिः स धर्मः"**—इस सूत्र का अर्थ यह है कि जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) तथा **निश्श्रेयस** (अलौकिक उन्नति) की सिद्धि हो, वह धर्म है। धर्म के इस लक्षण के अनुसार धर्म-विधान का विभाजन तीन तरह से किया जा सकता है—१. केवल लौकिक, २. केवल अलौकिक और ३. मिश्रित। इन तीनों पर पृथक्-पृथक् विचार नीचे किया जायेगा।

१. केवल लौकिक—ज्ञान का आदान-प्रदान एवं व्यवहार का निर्वाह करने के लिए लेखन कार्य अति-आवश्यक है। प्राचीन समय में ताड़ या भोजपत्रों पर लेखनी को बारम्बार स्याही में डुबोकर लिखा जाता था। वर्तमान में समयानुसार उसका परिवर्तन करके कागज पर पेन में स्याही भर के लिखा जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन किसी भी लौकिक या अलौकिक उन्नति में बाधक न होने

के कारण किया जा सकता है। लेख-विस्तार के भय से केवल एक ही उदाहरण दिया है।

जिस परिवर्तन से किसी अन्य लौकिक उन्नति में बाधा आती हो उसे दूर तक गंभीर विचार कर करना चाहिए, नहीं तो उन्नति की जगह अवनति ही होगी। जैसे अंग्रेजी दवायें तत्काल लाभ करती हैं परन्तु कालान्तर में अनेक रोग भी उत्पन्न कर देती हैं। डी.डी.टी. से फसल की रक्षा होती है, किन्तु खाद्य पदार्थ, जल तथा वायु दूषित होकर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। सिनेमा, टेलीविजन, और ट्रांजिस्टर से मनोरंजन होता है, परन्तु भ्रष्टाचार, बलात्कार तथा व्यभिचार का प्रसार-प्रचार हो रहा है। अतः शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, अर्थविज्ञान आदि पर पूरा ध्यान रखकर ही परिवर्तन करना चाहिए।

जिस परिवर्तन से अलौकिक उन्नति में बाधा होती हो उसे नहीं करना चाहिए। जैसे कामवासना-नाश के लिए नग्न स्त्री-पुरुष के ध्यान का विधान लोक में व्यभिचार का प्रचार-प्रसार करनेवाला ही नहीं है किन्तु परलोक में नरक प्रदान करके अलौकिक उन्नति में बाधा पहुंचाता है, अतः उसे नहीं करना चाहिए।

२. **केवल अलौकिक**—पत्थर की मूर्ति पूजने से, गायत्री-मन्त्र जपने से एवं तीर्थ-यात्रा आदि करने से जन्मान्तर में या परलोक में किस अलौकिक फल की प्राप्ति होती है, इसे भौतिक विज्ञान द्वारा किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः वर्तमान भौतिक विज्ञानप्रधान समयानुसार इसका परिवर्तन भी नहीं किया जा सकता। मूर्ति-पूजा आदि से अलौकिक फल की प्राप्ति में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रकथित फल की प्राप्ति शास्त्रकथित विधि-विधान का पालन करने पर ही होती है। अतः जिस देश, काल, व्यक्ति तथा विधि द्वारा मूर्ति-पूजा आदि का विधान जैसा शास्त्र में किया

है, उसमें परिवर्तन करने से लाभ न होगा, इतना ही नहीं बल्कि हानि भी होगी। भले ही यह परिवर्तन सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार की उदार भावना से या विश्वबन्धुत्व आदि की उदार भावना से किया जाये।

जैसे ट्रांजिस्टर, टेलीविजन आदि यन्त्र विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति परोपकार भाव से अपने मित्र की सहायता करता है। मित्र की आलमारी में टेलीविजन ठीक से जमाकर बैठाने में उनकी एक बटन बाधक हो रही थी। उसे वह काटकर निकाल देता है और टेलीविजन को ठीक से जमाकर बैठा देता है। इसमें मित्र को लाभ न होकर हानि ही होती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि परोपकार और उदार भाव होने पर भी उसने अनधिकार चेष्टा की है; क्योंकि वह जब उस यन्त्र के विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ है, तब उसे उसमें काँट-छाँट करने का अधिकार ही नहीं।

वैसे ही मूर्तिपूजा आदि विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार या विश्वबन्धुत्व की उदार भावना से कार्य करता है। शास्त्र-कथित विधि-विधान का पालन वर्तमान समाज में ठीक बैठते न देखकर उनमें काट-छांट कर मूर्तिपूजा आदि का मनमाना विधान करता है। इसमें मूर्तिपूजा, गायत्री-जप आदि करनेवाले को लाभ न होगा। इतना ही नहीं किन्तु शास्त्रीय विधि-विधान का उल्लंघन करने-कराने से दोनों को हानि भी होगी। इसका एकमात्र कारण यह है कि उदार भाव होने पर भी उसने अनधिकार चेष्टा की है। क्योंकि मूर्तिपूजा से अलौकिक धर्म की उत्पत्ति शास्त्र विज्ञान से होती है। उससे सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण उस विधान में काट-छांट करने का अधिकार ही उसे नहीं। अलौकिक धर्म-अधर्म की सिद्धि शास्त्र प्रमाण से ही होती है। अन्य

प्रमाण से नहीं होती। [मेरे द्वारा लिखित 'वैदिकचर्याविज्ञान' ग्रन्थ की भूमिका में इस पर विस्तार से विचार किया गया है।]

३. **मिश्रित**—लौकिक तथा अलौकिक दोनों लाभों के लिए जिन धर्मों का विधान किया गया है उन्हें मिश्रित कहते हैं। जैसे कुआँ, धर्मशाला आदि बनवाने के विधान हैं। कुआँ बनवाने से मनुष्यों को लाभ हो जाता है, यह लौकिक लाभ होता है। बनवाने वाले को स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, यह अलौकिक लाभ है। इसमें से लौकिक अंश में समयानुसार यह परिवर्तन किया जा सकता है कि कूप की जगह हैंडपम्प या नल लगा दिया जाये। अलौकिक स्वर्गादि की प्राप्ति तो तभी होगी जब शास्त्र-विधानानुसार पूजा करके उसे जनता-जनार्दन को दान कर दिया जाए। इस अलौकिक अंश में समयानुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह शास्त्र-प्रमाण से ही सिद्ध होता है, अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

देहाध्यासका त्याग कैसे हो ?

शंका—सन्त एवं सद्ग्रन्थ कहते हैं कि देह में अहंबुद्धि रूप देहाभिमान होनेपर ही मान-अपमान क्रमशः सुख-दुःख प्रदान करते हैं, क्योंकि मान-अपमान देह का ही होता है, आत्मा का नहीं। देह आत्मा नहीं, क्योंकि चार दिन अन्न न खानेसे देह दुबला हो जाता है तथा खाने से मोटा हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि देह अन्नजन्य है। 'इसके दुबले और मोटे होने को जाननेवाला आत्मा देह से भिन्न है' इस ज्ञान से देहाभिमान का अर्थात् देहाध्यास का त्याग हो जाता है। मैंपना के अतिरिक्त देह में मेरापना होना यह भी देहाध्यासका ही दूसरा रूप है। ऊपर लिखी

रीति से 'देह अन्नजन्य होने से अन्न का ही है मेरा नहीं' इस ज्ञान से उसका भी त्याग हो जाता है। ये सभी बातें मुझे बहुत ही ठीक लगती हैं, इनमें जरा भी मुझे सन्देह नहीं। 'देह मैं नहीं, देह मेरा नहीं' ऐसा ज्ञान विचार के समय तो स्पष्ट होता है, परन्तु सत्संग, साधन करते हुये बीसों वर्ष व्यतीत हो गये तो भी व्यवहार काल में देह में मैंपना और मेरापना रूप देहाध्यास का परित्याग नहीं होता, सो कैसे हो ? बताने को कृपा करें।

समाधान—जो दोष केवल अज्ञानजन्य होता है उसका नाश केवल ज्ञान से हो जाता है। जिस दोष में अज्ञान के साथ सुदृढ़ दीर्घ-कालीन अभ्यास भी हेतु होता है उसके नाश के लिये ज्ञान के साथ सुदृढ़ दीर्घकालीन विपरीत अभ्यास भी करना पड़ता है। देहाध्यास में अज्ञान तथा अभ्यास दोनों हेतु होने से केवल ज्ञान से उसका त्याग न होगा। अतः दीर्घकालपर्यन्त विपरीत अभ्यास भी कीजिये। देहा-ध्यास की सुदृढ़ता में क्या-क्या हेतु हैं ? इसपर गंभीर विचार किये बिना विपरीत अभ्यास से भी पूर्ण सफलता न होगी। जन्म होने के बाद से ही देह को लक्ष्य करके परिवार के लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि—'तू छोटा है' 'तू मोटा है' इत्यादि एवं समाज के लोगों ने देह, वाणी से किये कर्म, वचन को लेकर ही मुझे दण्ड, पुरस्कार दिये। इस प्रकार विचार करके देखा जाय तो देहाध्यास की दृढ़ता में परि-वार तथा समाज का भी बहुत बड़ा सहयोग है। अतः परिवार तथा समाज के सहयोग के बिना हम केवल अपने विपरीत अभ्यास से देहा-ध्यास का त्याग कर सकते हैं क्या ? इसपर भी गम्भीर विचार करना होगा।

देह से भिन्न आत्मा को कर्त्ता माननेवालों ने ही नहीं किन्तु आत्मा-को अकर्ता माननेवालों ने भी ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाने पर उपदेश आदि व्यवहार सिद्धिके लिये बाधितानुवृत्ति रूप से देह में मैं-

मेरा पनेका सम्बन्ध स्वीकार किया और उसमें हेतु प्रारब्ध कर्म को माना है। अनुभव के अनुसार देखा जाय तो अपने देह में मैं-मेरा-पन का भान जैसा सहज होता है वैसा परदेह में लाखों प्रयत्न करके ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं कर पाता। इससे भी यह सिद्ध होता है कि अपने देह में मैं-मेरा-पने के भान में प्रारब्ध कर्म भी हेतु है। इसकी निवृत्ति हम विपरीत अभ्यास से कर सकते हैं क्या ? इस पर भी गम्भीर विचार करना होगा।

ऊपर किये गये विचार से यह सार निकलता है कि देहध्यास में अज्ञान, दृढ़ अभ्यास, परिवार एवं समाज का सहयोग तथा प्रारब्ध ये सभी हेतु हैं। अतः ज्ञान से अज्ञान का नाश तथा विपरीत दृढ़ अभ्यास से देहाध्यास को शिथिल कर देना, इतना ही साधक के हाथ में है। परिवार तथा समाज के सहयोग से रूप हेतु को दूर करना साधक के हाथ में नहीं। प्रारब्ध कर्म को मिटाना भी साधक के हाथ में नहीं, उसका क्षय तो प्रारब्धभोग पूरा होने पर ही होगा, अतः उसकी तो प्रतीक्षा ही करनी होगी।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि देह में सर्वथा 'मैंपना' तथा 'मेरापना हुये बिना व्यवहार सम्भव है क्या ? व्यवहार अभेद में नहीं किन्तु भेद होनेपर ही होता है, भेद मैं-मेरा होनेपर ही होता है। यही कारण है कि देह द्वारा किये कर्म को लेकर 'इसने यह कर्म किया है' ऐसा मानकर मुझे दण्ड या पुरस्कार दिया जाता है एवं वाणी से निकले वचन को लेकर 'इसकी वाणी से यह वचन निकले हैं' ऐसा मानकर मुझे दण्ड या पुरस्कार दिया जाता है। इस प्रकार गम्भीर विचार कर देखा जाय तो 'मैं-मेरा' रूप देहाध्यास के बिना जब व्यवहार हो ही नहीं सकता तब व्यवहार काल में देहाध्यास के त्याग का क्या स्वरूप होगा ? यह भी विचारना होगा। अन्त में यही कहना होगा कि जिस सामान्य देहाध्यास के बिना व्यवहार हो ही नहीं सकता

उस सामान्य देहाध्यास का व्यवहार में त्याग तो अज्ञानी ही नहीं किन्तु ज्ञानी भी नहीं कर सकता। अतः जिस विशेष देहाध्यास के कारण हम शास्त्रमर्यादा का अतिक्रमण करके हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि कुकर्म करते हैं, उसी विशेष देहाध्यास का व्यवहार-काल में त्याग किया जा सकता है। उसके त्याग का एकमात्र उपाय शास्त्र, शास्त्रकथित विधि-निषेध तथा उनके फलोंपर सुदृढ़ जागरूक विश्वास है। क्योंकि शास्त्रकथित हिंसादिके फल नरक दुःखके भयसे अपमानादि को साधक सहन कर लेता है, बदला लेने की चेष्टा नहीं करता।

[इसका शास्त्रीय तथा दार्शनिक दृष्टि से विशद, विस्तृत विवेचन मेरे द्वारा लिखित 'साधनविचार' नामकी पुस्तक में 'अहंता तथा ममता का त्याग' इस शीर्षक में किया है।]

हिन्दूधर्म-संरक्षण

कुछ हरिजन धर्मपरिवर्तन करके मुसलमान बन गये। इस घटना से हिन्दूधर्म के अनुयायियों के हृदय में हिन्दूधर्म-संरक्षण की चिन्ता होना स्वाभाविक है। अतः कुछ हिन्दूधर्म-संरक्षकों का कहना है कि हमें अपने मन्दिर हरिजनों के लिए खोल देने चाहिए, हरिजनों के साथ खान-पान करके सब प्रकार से उनका सम्मान करना चाहिए नहीं तो हिन्दूधर्म विनष्ट हो जायेगा।

वैदिक हिन्दूधर्म के मर्मज्ञ विद्वानों का कहना है कि वेदरूपा श्रुति तथा श्रुति के अनुसारी मन्वादि स्मृतियों एवं पुराणों में जो प्रतिपादित है वही वैदिक हिन्दूधर्म का वास्तविक रूप है। इन ग्रन्थों का अध्ययन करके कोई भी देख सकता है कि वैदिक हिन्दूधर्म का मूलाधार वर्णाश्रमविभाग है। अतः मूलाधाररूप वर्ण-आश्रम-

विभाग का विनाश करके वैदिक हिन्दूधर्म-संरक्षण की बात कहना तो वैसा ही है जैसा कि मूल (जड़) को काटकर वृक्ष की रक्षा करना। इस कदम से तो जहाँ वैदिक हिन्दूधर्म कालान्तर में विनष्ट होता होगा वह अभी ही नष्ट हो जायेगा, भले ही हिन्दू कहलानेवालों की संख्या अधिक बनी रहे।

कुछ लोगों का कहना है कि हिन्दुस्तान में विभिन्न धर्म माननेवाले रहते हैं। इसलिए सरकार हिन्दूधर्मानुसार विधान नहीं बना पाती। यदि मुसलमान आदि सभी के साथ खान, पान और सम्मान द्वारा उन्हें हिन्दू ही बना लिया जाय तो हिन्दूधर्मानुसार विधान बन जायेगा, जिससे सदा के लिए दृढ़ता से हिन्दूधर्म का संरक्षण हो जायेगा। इन लोगों का कथन भी मूल को काटकर वृक्ष की रक्षा करना जैसा ही है। इसका कारण यह है कि वर्ण-आश्रम-विभाग का विनाश करके वैदिक हिन्दूधर्म की रक्षा के लिए बनाये गये बहुसंख्यक हिन्दू वर्ण-आश्रम विभाग मूलक वैदिक हिन्दूधर्मानुसार विधान ही नहीं बनने देंगे। इतना ही नहीं किन्तु वर्ण-आश्रम विभाग का समर्थन करनेवाले श्रुति-स्मृति शास्त्रों को जला डालने का ही विधान बनवायेंगे।

वर्ण-आश्रम विभाग का नाश करके बने हिन्दूधर्म से राष्ट्र की भी हानि होगी। देखिये—मन्दिर निर्माण तथा यज्ञ करने से कोई लाभ होता है यह किसी भौतिक विज्ञान से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह तो केवल शास्त्र-प्रमाण से ही सिद्ध होता है। अतः शास्त्रवर्णित वर्ण-आश्रम विभाग की मर्यादा का अतिक्रमण करके किया गया यज्ञ तो घृतादि उत्तम पोषक पदार्थों का विनाश करके राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाला ही होगा एवं मन्दिर निर्माण में किये गये धन के विनाश से भी राष्ट्र को हानि ही होगी। इनसे तो लाभ तभी होगा जब शास्त्र-मर्यादा-अनुसार वर्ण-आश्रम विभाग को स्वीकार करके किया जाये।

उपरोक्त कारणों से वैदिक हिन्दूधर्म-मर्मज्ञ दूरदर्शी विद्वान् जो वर्ण-आश्रम विभाग का नाशक हो ऐसे किसी भी उपाय का समर्थन नहीं करते, उसे तो वैदिक हिन्दूधर्म का तत्काल नाशक ही मानते हैं। प्रश्न हो सकता है कि फिर हिन्दूधर्म का संरक्षण कैसे हो? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि पहले सरकार हिन्दूधर्म के मूलाधार को समझे और स्वीकार करे। बाद में उसके प्रचार-प्रसार की व्यवस्था करे। प्रलोभन आदि के द्वारा किये जानेवाले धर्मपरिवर्तन को कानून बनाकर रोके, तभी हिन्दू-धर्मका संरक्षण होगा, अन्यथा नहीं। इसका कारण यह है कि सरकार के हाथ में सत्ता तथा प्रचार-प्रसार के अन्य साधन होते हैं, जनता के हाथ में नहीं। यही कारण है कि प्राचीनकाल में बौद्धादि धर्मों के प्रचार-प्रसार की मुख्याधार सरकार (राजा) ही हुई थी। जनता तो कुछ सहयोग मात्र ही कर सकती है।

कुछ लोगों का कहना है कि वर्ण-विभाग अन्धविश्वासमूलक राष्ट्र के लिए अहितकर है। उसका समर्थन करके हिन्दू-धर्म-संरक्षण करना तो राष्ट्र को नष्ट करना है। इसपर वर्णविभाग के विशेषज्ञों का कहना है कि वर्ण-विभाग का मानना भौतिक विज्ञान से भी राष्ट्र के लिए हितकर ही सिद्ध होता है, अतः उसे अन्धविश्वास नहीं कहा जा सकता। इसे समझने के लिए 'वैदिक चर्याविज्ञान' ग्रन्थ के 'जातिविज्ञान' प्रकरण को मनोयोग से पढ़ना चाहिए।

मन लगे बिना भी पूजा-पाठ से लाभ

शङ्का—मन अति चञ्चल बलवान् मथ डालनेवाला है, उसको रोकना वायु को रोकने की तरह बड़ा कठिन है। ऐसा अर्जुन ने कहा। भगवान् ने भी बिना किसी विरोध के उस बात को स्वीकार किया देखिये—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

(गी० ६।३४)

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

(गी० ६।३५)

रामायण में भी कहा है 'जीतिहि मनहिं सुनिय अस रामचन्द्र के राज'। श्रीरामजी के राज में त्रेता सतयुग के समान हो गया था 'त्रेता भई सतयुग की करनी'। इस प्रकार जब सतयुग में भी जब मन को वश में करना कठिन था तब इस कठिन कलिकाल में मन का वश में करना तो सर्वथा ही असंभव है। इतना ही नहीं किन्तु अनुभव तथा रामायण के वचनानुसार मन पाप में ही मगन रहना चाहता है, उससे निकलना ही नहीं चाहता है—

'कलि केवल मल मूल मलीना ।
पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥'

इस गीता तथा रामायण के वचनों एवं अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कराल कलिकाल में मन का पापरहित शुद्ध तथा वश में होना प्रायः असंभव है। ऐसी दशा में शुद्ध एवं अन्यचिन्तन से रहित मन को लगाकर पाठ, पूजा, ध्यान, दान, तीर्थ आदि करना भी संभव नहीं। अतः यह शङ्का होती है कि मन लगे बिना किये गये पूजा-पाठादि से भी कुछ लाभ होता है क्या ?

समाधान—किसी राष्ट्रपति या महात्मा की सेवा-पूजा करनेवाला व्यक्ति यदि ठीक समय पर नियमानुसार स्नान, भोजन, पाद-प्रक्षालन, औषधदान आदि द्वारा उनकी सेवा-पूजा कर देता है, तो उसे राष्ट्रपति की सेवा से धन एवं महात्मा की सेवा से पुण्य अवश्य प्राप्त हो जाता है। भले ही सेवा करते समय उसका मन अन्य-

चिन्तन में मग्न रहा हो। इसका कारण यह है कि शारीरिक कर्मरूप सेवा तो उसने ठीक से की है। इसी प्रकार मन लगे बिना भी जो मूर्तिपूजा शास्त्रविधिपूर्वक की जाती है, उसका फल अवश्य होता है।

एवं अर्थ समझे विना तथा मन लगे बिना भी किसी सभा या रेडियो स्टेशन में गानविद्या विधान के अनुसार किये गये गान का फल धन-सम्मान अवश्य मिलता है। इसका कारण यह है कि वाचिक कर्मरूप गान तो उसने विधानानुसार किया ही है। इसी प्रकार अर्थ समझे बिना तथा मन लगे बिना शास्त्रविधिपूर्वक किये गये जप, स्तोत्र-पाठादि का फल अवश्य होता है।

शङ्का—यदि मन लगे बिना भी जप, स्तोत्र-पाठादि का फल होता है, तो भागवत के माहात्म्य में '**व्यग्रचित्तो हतो जपः**' (भाग० माहा० ५।७३) अर्थात् व्यग्र = विक्षिप्त चित्त से किया गया जप व्यर्थ है, ऐसा क्यों कहा है ?

समाधान—मन लगाकर पाठादि करने से जितना फल मिलता है उतना फल व्यग्रचित्त से जप करने पर नहीं मिलता, इस दृष्टि से उसे व्यर्थ कहा है। सर्वथा व्यर्थ होता है, ऐसा तात्पर्य भागवत-वाक्य का नहीं है। इसी प्रकार श्रद्धापूर्वक अर्थ समझ कर पाठ करने तथा सुनने से जितना लाभ होता है, उतना लाभ अर्थ को समझे बिना अश्रद्धा से पाठ सुनने तथा करने से नहीं होता, इस दृष्टि से ही शास्त्रों में अश्रद्धा से तथा अर्थ समझे विना पाठ करने या सुनने को कहीं-कहीं व्यर्थ कह दिया गया है।

शङ्का—विधिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, अर्थ समझकर तथा मन लगा कर पूजा, पाठ, जप आदि जैसे विशेष फल देते हैं, श्रद्धा आदि के विना सामान्य फल देते हैं, क्या ऐसा अन्तर तीर्थयात्रा, तीर्थस्नान आदि में भी होता है ?

समाधान—हाँ ऐसा अन्तर तीर्थयात्रादि में भी अवश्य होता है। तभी तो कहा है कि 'मन्त्र, तीर्थ, द्विज, देव, ज्योतिषी, औषधि तथा गुरु में जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसे वैसी सिद्धि मिलती है—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी यस्य श्रद्धाऽस्ति सिद्धिर्भवति तादृशी॥

पापी मनुष्यों को तीर्थ-सेवन से केवल पापनाशरूप फल ही मिलता है। स्वर्ग, मोक्षादि शास्त्रकथित पूर्ण फल तो शुद्धात्माओं को ही मिलता है, ऐसा भी स्पष्ट कहा है—

नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत्।
यथोक्तफलदं तीर्थं भवेत् शुद्धात्मनां नृणाम्॥

वास्तविक बात तो यह है कि किस क्रिया, वचन और भाव से पाप या पुण्य की उत्पत्ति होती है, यह बात शास्त्रमात्रगम्य है, प्रत्यक्षादिगम्य नहीं क्योंकि पाप-पुण्य प्रत्यक्षादि के विषय नहीं (इसे समझने के लिए मेरे द्वारा लिखित 'वैदिकचर्याविज्ञान' ग्रन्थ की भूमिका पढ़नी चाहिए) अतः पूजा, पाठ, जप, तीर्थयात्रादि के लाभों का जैसा शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है, उसे वैसा ही स्वीकार करना चाहिए। इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि शास्त्र के पूर्वापर वचनों पर विचार करने से कहाँ क्या तात्पर्य निकलता है। क्योंकि शास्त्र सर्वत्र अपने तात्पर्य अर्थ में ही सत्य होता है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'।

तत्त्वविचार और व्यवहार में अन्तर क्यों ?

शङ्का—'सर्वंखलु इदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१)
'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७।१९)

इत्यादि श्रुति—स्मृतियों में अति स्पष्ट शब्दों में सब को ब्रह्म ही कहा है। परन्तु जो लोग इस पर पूर्ण विश्वास करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु जो लोग अपने मुख से स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'यह सब ब्रह्म है' ऐसा मेरा साक्षात् अनुभव है, तत्त्वज्ञानी भी व्यवहार में अन्तर (भेद) करते हैं। श्वपच, श्वान तथा रजस्वला को नहीं छूते। प्याज, लहसुन, मद्य और मांस नहीं खाते। अर्वाचीन तत्त्वज्ञानी ही नहीं, किन्तु प्राचीन तत्त्वज्ञानी व्यास, वसिष्ठ आदि भी इसी प्रकार व्यवहार में अन्तर रखते थे। इतना ही नहीं किसी को शाप तक दे देते थे। तत्त्वविचार के अनुसार व्यवहार न करने के कारण नास्तिक लोग उन तत्त्वज्ञों और तत्त्वप्रतिपादक शास्त्रों का उपहास करते हैं और तत्त्वविचार को मस्तिष्क का विकार अर्थात् पागलपन कहते हैं।

एक अति प्रसिद्ध महात्मा अपने प्रवचन में बारम्बार जोरदार शब्दों में यह कहते हैं कि 'अपना कुछ नहीं सब भगवान् का ही है'। परन्तु वे स्वयं भी व्यवहार में अन्तर करते हैं 'यह मेरा कमण्डल है, इसका पानी पीना ठीक है, तुम्हारे कमण्डल का पानी पीना ठीक नहीं'। इस प्रकार जिस तत्त्वविचार को व्यवहार में उतार कर न दिखाया जा सके, उसे सब प्रकार से बेकार कहनेवालों को नास्तिक कह कर गाली देना उचित प्रतीत नहीं होता। अतः कृपया यह बतलाइये कि तत्त्वज्ञानी के तत्त्वविचार और व्यवहार में अन्तर क्यों ?

समाधान—व्यवहार अभेद में नहीं, किन्तु भेद होने पर ही होता है। यही कारण है कि समाधि, सुषुप्ति तथा मूर्च्छा में भेद प्रतीति न होने के कारण कोई व्यवहार नहीं होता। जाग्रत और स्वप्न में भेद प्रतीति होने के कारण इनमें व्यवहार होता। भेद 'मैं-मेरा, तैं-तेरा' होने पर ही होता है। ऐसी दशा में 'यह सब ब्रह्म है' 'यह सब भगवान्

का है' इस अभेदात्मक तत्त्वविचार के अनुसार व्यवहार होना संभव न हो सकने के कारण ही प्राचीन-अर्वाचीन तत्त्वज्ञानियों के तत्त्व-विचार और व्यवहार में अन्तर रहा है और सदा रहेगा।

व्यवहार में अन्तर का दूसरा कारण है वस्तुओं में पृथक्-पृथक् रूप से गुण-दोषों का होना। रजस्वला स्त्री के शरीर में से हानि-कारक दूषित परमाणु निकलते हैं, ऐसा अब आधुनिक भौतिक विज्ञानी भी मानते हैं। यही कारण है कि अन्य रजस्वला स्त्री को ही नहीं किन्तु अपनी पूज्या माता को भी रजस्वला अवस्था में नहीं छूते। इसी प्रकार प्याज-लहसुन, मद्य-मांस आदि रजोगुण तथा तमोगुण को बढ़ाते हैं,' इसलिए नहीं खाते। तत्त्वविचार के अनुसार व्यवहार न होने के कारण यदि तत्त्वविचार को मस्तिष्क का विकार (पागलपन) कहा जाय तो भौतिक विज्ञान के विचार तत्त्वविचार को भी पागलपन कहना होगा, क्योंकि 'सब पदार्थ भौतिक ही हैं' ऐसा कहने वाले भौतिक विज्ञानी भी दाल-रोटी खाते हैं, अशुद्ध संखिया नहीं खाते। तत्त्वविचार केवल वस्तु स्थिति को समझने के लिए ही होता है, व्यवहार में उतार कर दिखाने के लिए नहीं। इस रहस्य को न समझने के कारण ही 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' 'यह सब ब्रह्म है' इस तत्त्वविचार को मस्तिष्क का विकार कहने वालों को नास्तिक कह कर निन्दा की जाती है।

तत्त्वदर्शन और वर्तन (व्यवहार) में अन्तर होता है इस बात को समझाने के लिए ही गीता में समदर्शी होने की बात कही है, समवर्ती होने की नहीं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१८)

सब का शासक होने के कारण 'सब सरकार का है' यह बात सिद्धान्त की दृष्टि से ही कही जाती है। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से व्यक्ति ही दूकान, मकान, धन-धान्य का मालिक होता है। तभी तो वह मकान आदि को बेचने और रखने का अधिकारी होता है। इसी प्रकार 'सब भगवान् का है' यह बात सब का शासक होने के कारण सिद्धान्त की दृष्टि से ही कही जाती है। परन्तु व्यवहार तथा शास्त्र की भी दृष्टि से व्यक्ति ही मकान आदि का मालिक होता है, तभी तो लोक में वह उसे बेचने तथा परलोक में पुण्य प्राप्त करने के लिए दान देने का अधिकारी होता है। यदि अपना कुछ न हो तो दान देना संभव ही नहीं हो सकता, क्योंकि दान अपनी वस्तु का ही होता है। इसीलिए दान का लक्षण बनाया गया—

'स्वस्वत्वपरित्यागपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं दानम्'

अर्थात् अपना अधिकार त्याग कर दूसरे का अधिकार उत्पन्न कर देना ही दान है। अतः जो लोग व्यवहारदृष्टि से भी 'अपना कुछ नहीं' ऐसा कहते हैं, वे ठीक नहीं समझते। अतः 'सब भगवान् का है अपना कुछ नहीं' यह बात जब व्यवहारदृष्टि से कही ही नहीं गई तब उसे व्यवहार में उतार कर कैसे दिखाया जा सकता है। इस प्रकार तत्त्व-विचार और व्यवहार के स्वरूप को ठीक जान लेने पर 'तत्त्व-विचार और व्यवहार में अन्तर क्यों?' यह प्रश्न समाप्त हो जाता है।

कर्म-भक्ति के अनुष्ठान में अन्तर

शङ्का—(१) तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव

विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य-
वत्तरं भवति ।

(छान्दोग्योपनिषद् १।१।१०)

अर्थ—जो इसको इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों ही उसके द्वारा कर्म करते हैं। किन्तु विद्या और अविद्या दोनों भिन्न-भिन्न फल देनेवाली है। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से युक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है।

ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति ।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाऽविदुषो भवेत् ॥

(भागवत १०।२४।६)

अर्थ—यह मनुष्य जानकर तथा बिना जाने कर्मों का अनुष्ठान करता है। इनमें से विद्वान् के कर्म की सिद्धि जैसी होती है, वैसी अविद्वान् के कर्म की नहीं होती।

(२) **ज्ञात्वाऽज्ञात्वाऽथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।**
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥

(भाग० ११।११।३३)

अर्थ—मैं जितना हूँ, जो हूँ, जैसा हूँ, इसे जानकर या बिना जाने जो लोग अनन्यभाव से मेरा भजन करते हैं, वे मुझे भक्ततम मान्य हैं।

ऊपर लिखे शास्त्रवचनों में ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों में तो विशेषता बताई है परन्तु भक्ति में विशेषता नहीं बताई। इस अन्तर का क्या कारण है ?

समाधान—भक्ति जिस भक्तवत्सल भगवान् की जाती है वह अज्ञ या अल्पज्ञ नहीं किन्तु सर्वज्ञ है। अतः वे भक्त के श्रद्धा, प्रेम तथा

अन्यभाव को जानते हैं। इन्हीं सबकी भक्तिभाव में प्रधानता होती है, ज्ञान की प्रधानता भक्तिभाव में नहीं होती। इसलिए भक्ति में विशेषता नहीं बताई। देखिये—एक विद्वान् ने अनेक शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन करके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भगवान् तथा जीव का कैसा स्वरूप माना गया है ? जीव का भगवान् के साथ कैसा सम्बन्ध है ? इत्यादि बातों का इतना अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया है कि उस विषय में लोगों की शङ्काओं का समाधान कर देता है। परन्तु भगवान् का भजन-ध्यान नहीं करता अथवा पूर्ण श्रद्धा और प्रेम से नहीं भजता, अथवा सकाम-भाव से भजता है, निष्काम अनन्य भाव से नहीं भजता। ऐसे ज्ञानवान् की अपेक्षा भगवान् के स्वरूपादि का ज्ञान न रखनेवाले किन्तु भगवान् का अनन्यभाव से निष्काम प्रेम-पूर्वक भजन करनेवाले भक्त को ही भगवान् की प्राप्ति होगी विद्वान् को नहीं। इसका एकमात्र कारण यह है कि—

'रामहिं केवल प्रेम पियारा' ।

दूसरी बात यह है कि भगवान् का स्वरूप, गुण, कर्म, माहात्म्य, लीला आदि अनन्त हैं, उन्हें अल्पज्ञ जीव कभी पूर्णरूप से जान ही नहीं सकता, इसलिए भी भक्ति में 'ज्ञानपूर्वक भजे' यह शर्त नहीं लगाई गई।

तीसरी बात यह है कि शास्त्र से भगवान् के स्वरूपादि का ज्ञान प्राप्तकर लेने के बाद उन ज्ञानवानों को भी ज्ञानरहित भक्तों की तरह ही अनन्यभावसे भजन-ध्यान करने पर ही भगवत्प्राप्ति होती है। इससे भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनन्यभाव ही भगवत्प्राप्ति में मुख्य साधन सिद्ध होता है।

कर्म में जो ज्ञानपूर्वक भजने की शर्त लगाई गई है, वह तो सर्वथा ही उचित है। क्योंकि अलौकिक कर्मों की बात ही क्या, लौकिक कर्मों के बारे में भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो जिस कर्म के बारे

में जितना अधिक ज्ञान रखता है, उसका कर्म उतना ही अधिक सफल होता है। शास्त्रीय अलौकिक कर्म सकाम तथा निष्काम भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें से भगवत्प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर पूर्णश्रद्धा-पूर्वक किए गये निष्काम कर्मों में यदि ज्ञान तथा अनुष्ठान में कुछ कमी रह जाय तो उस कमी की पूर्ति तो हो जाती है। क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ, भावग्राहक होने से भक्त के भाव तथा श्रद्धा को जानते हैं, अतः कहने या करने में कुछ कमी रह जाने पर भी भक्त-वत्सल भगवान् भक्त के भाव को ही ग्रहण कर प्रसन्न हो जाते हैं। इसीलिए तुलसीदास जी कहते हैं—

कहत नसाय होय जिय नीको।
रीझत राम जान जन जिय की॥

भगवान् की तो बात ही क्या भगवान् के नाम तथा उनके प्रति की गई श्रद्धा में भी इतना सामर्थ्य है कि ज्ञान या अनुष्ठान की कमी को पूरा कर देती है। देखिये—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥

(भाग० ८।१३।१६)

वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत।
श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हतः॥
अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।

(शान्तिपर्व २६४।९-२५)

अर्थ— मन्त्र, तन्त्र, देश, काल, योग्यवस्तु से होनेवाले छिद्र (कमी) को आपका नाम-संकीर्तन पूर्ण कर देता है। वाणी तथा मन की कमी से श्रद्धा रक्षा कर देती है। किन्तु श्रद्धा की कमी को

वाणी तथा मन पूरा नहीं कर पाते। अतः अश्रद्धा परम पाप है, श्रद्धा पाप से छुड़ानेवाली है।

सकाम कर्मों में तो सम्यक् ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान की परमावश्यकता होती है, इसके बिना सफलता नहीं मिलती, इतना ही नहीं किन्तु विपरीत फल भी प्राप्त होता है। जैसे किस देश-काल में, किस रोग में, किस दवा की कितनी मात्रा, किस अनुपान से देनी चाहिए इस ज्ञान से युक्त विद्वान् जब औषध सेवन करता है, तो स्वास्थ्यलाभ होता है। उक्त ज्ञान न होने पर रोग दूर नहीं होता, इतना ही नहीं किन्तु हानि भी हो जाती है। वैसे ही शास्त्रीय सकाम कर्मों में भी सम्यक् ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान की आवश्यकता होती है इसीलिए 'ज्ञान-पूर्वक' की शर्त लगाई गई है। यही कर्म और भक्ति के अनुष्ठान में अन्तर है।

शङ्का—यदि शास्त्रीय सकाम कर्मों में किसी कारण कमी रह जाय तो उसकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है?

समाधान—इस विषय में शास्त्र ने ही यह कहा है—

प्रवृत्तमन्यथा कुर्याद् यदि मोहात् कथञ्चन।
यतस्तदन्यथाभूतं तत एव समापयेत्॥
समाप्ते यदि जानीयान्मयैतदन्यथाकृतम्।
तावदेव पुनः कुर्यान्नावृत्तिः सर्वकर्मणः॥
प्रधानस्याक्रियायां तु साङ्गं तत्क्रियते पुनः।
तदङ्गस्याक्रियायां तु नावृत्तिर्न च तत्क्रिया॥

(कात्यायनस्मृतिः ३।४-५-६), (गोभिलस्मृतिः १।३६-३७-३८)

अर्थ—कार्य के प्रारम्भ में ही यदि मोह (प्रमाद) वश गलती कर जाय, तो जहाँ गलती हुई हो वहीं समाप्त करके (फिर से अनु-

ष्ठान आरंभ करे)। कर्म समाप्त होने पर यदि जाने कि मैंने यह गलत किया है, तो उतना ही पुनः करे, सम्पूर्ण कर्म की आवृति (पुनः अनुष्ठान) न करे। प्रधान कर्म न किया हो तो अंगसहित फिर से उसे करना चाहिए। यदि अङ्ग अर्थात् गौणकर्म न किया हो तो आवृत्ति या उस क्रिया को करने की आवश्यकता नहीं।

ये ऊपर लिखे कमी पूर्ति के उपाय सुगम होने पर अवश्य करने चाहिए। अति कठिन होने पर तो शास्त्रकथित प्रायश्चित्त ही करना चाहिए।